SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
S. University of Baroda

Chap-1

प्रथम अध्याय -

प्रेमचंद का देशकाल

क-प्रेमचंद का युग

ख-जीवन संघर्ष

ग-आधुकिता का उदय और प्रसार

प्रेमचंद की रचनाएं नए संभावनाओं की तलाश है। विशेष तौर पर उनकी रचनाएं जड़ अवधारणाएं, मृत सिद्धान्तों और थोथे मताग्रहों के पाखण्ड को खण्ड-खण्ड करती हुई समाज सच्ची दिशा की समझ है। इस समझ को पोख्ता बनाने के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जागरुकता की जानकारी आवश्यक है।

प्रेमचंद भारतीय समाज के लिए सदा प्रासंगिक रहे हैं पर पिछले दिनों उनकी प्रासंगिकता और बढ़ गयी है। हमारा समाज आगे बढ़ने के बजाय पीछे की तरफ जा रहा है। जिस पिछड़ेपन के विरुद्ध प्रेमचंद ने संघर्ष किया था, वह विशेष रूप से हिन्दी-प्रदेश में सघन हो गया है। आर्थिक स्तर पर जनती की गरीबी अपनी जगह है, राजनीतिक स्तर पर देश के विघटन की समस्या और तीव्र हो गई है। सांस्कृतिक स्तर पर द्विवज और शूद्र का भेद, हिन्दू और मुसलमान का भेद और बढ़ा है। पुराने भेदों में इज़ाफा हुआ है हिन्दू और सिक्ख के भेद का। धार्मिक अंधविश्वासों को उभारने में, बड़े पैमाने पर हत्याकाण्ड रचाने में, जनता को तरह-तरह से आतंकित करने में 1992 और 93 के वर्षों ने पुराने सभी युगों को पीछे छोड़ दिया है। प्रेमचंद का साहित्य इस परिस्थिति को समझने में सहायता करता है। उनकी भाषा का रस, उनकी कथाएँ पढ़ने का मजा अपनी जगह है। उनके साहित्य का कलात्मक रूप बहुत पड़ा है। पर वह साहित्य आज के भारत का बहुत बड़ा, लगभग अद्वितीय, ऐतिहासिक दस्तावेज भी है। उसे पढ़कर हम समझ सकते हैं, पहले से चला आता पिछड़ापन क्यों अधिक सघन है?

समाज गतिहीन नहीं है। उसकी गति आगे की ओर भी हो सकती है और पीछे की ओर भी। इस समय वह पीछे की और है। कारण यह है कि समाज को पीछे की ओर ठेलने वाली जिन शक्तियों से प्रेमचंद लड़े थे, उनसे समाज के प्रभावशाली गिरोहों ने समझौता किया है, उन्हें बढ़ावा दिया है। जिन पर इतिहास ने समाज को बदलने की जिम्मेदारी डाली है। वे अगर अपनी जिम्मेदारी नहीं सभाँलते तो जो हो रहा है वह होगा ही। इससे भी बुरे दिन आ सकते हैं। अपने युग के अप्रतिम चित्रकार प्रेमचंद सामाजिक स्थिरता के पक्षधर नहीं हैं। अतीत की

ओर लौट चलने के पक्षधर वे और भी नहीं हैं। विभिन्न स्तरों के किसानों के चित्रण में परिवर्तन की आकांक्षा अन्तर्धारा की तरह स्पष्ट दिखायी देती है। यह यथार्थवादी साहित्यकार है, वह आस्थावान साहित्यकार है।

देश के अन्य भागों से इस समय सांस्कृतिक पिछड़ापन हिन्दी-प्रदेश में कुछ ज्यादा ही है। यह सत्य ही है कि हिन्दी-प्रदेश में प्रेमचंद जैसा साहित्य लिखा ही नहीं जा सकता। यह प्रसन्नता की बात है कि आज भी साधारण पाठक जितना प्रेमचंद को पढ़ते हैं, उतना किसी और कथाकार को नहीं। यह वर्तमान परिस्थिति का उज्ज्वल पक्ष है। प्रेमचंद का समाज हिन्दुत्व और इस्लाम द्वारा विभाजित नही है। साधारण पाठक अपने सहज बोध से प्रेमचंद को अपनाता है। सांप्रदायिक विभाजन सतह पर है। वह संस्कारों को नहीं छूता। जहाँ संस्कार हैं वहाँ प्रेमचंद हैं, वह उन्हें बनाते हैं, निखारते और सवारते हैं। वह उन सबके मार्गदर्शक और सहायक हैं जो वर्तमान परिस्थिति से उबरना चाहते हैं।

बहुत सी विचलित कर देने वाली चीजे सतह पर हैं। आँधी की तरह वे हमें झकझोर देती हैं। सतह के नीचें गहराई में हमारे मानवीय संस्कार हैं। ये संस्कार जो हमें विचलित होने से बचाते हैं। वे साधारण जनता के आपसी संबंधों को मजबूत करते हैं, वह जनता के शत्रुओं की पहचान कराते हैं। वे समाज व्यवस्था को बदलने की प्रेरणा देते हैं। प्रेमचंद के साहित्य से हम उनके युग की पहचान करते हैं। उस युग की तुलना में हम कितना पीछे जा चुके हैं, यह भी हम उस साहित्य से जान सकते हैं। प्रेमचंद और अमृतलाल नागर दो ऐसे कथाकार हैं जिनके यहाँ हिन्दू पात्रों के साथ-साथ मुसलमान पात्र भी हैं। दोनो एक ही समाज के अंग हैं। आज ऐसा लगता है कि हिन्दू समाज अलग है और मुसलमान समाज अलग है। जो इस अलगाव के जिम्मेदार हैं, वे भी मानते हैं कि ऐसा नहीं होना चाहिए। इस अलगाव को खत्म करना है, शोषणमुक्त नए मानवीय संबंधों के समाज का निर्माण करना है। इस कार्य में प्रेमचंद हमारी सहायता करते हैं। यह उनकी प्रासंगिकता है। इसके साथ कलात्मक साहित्य के विकास में उनका योगदान युगांतकारी है।

प्रेमचंद का युग

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में प्रेमचंद के कथा-साहित्य का अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण से किया गया है। अतः प्रेमचंद के समय के युगीन परिवेश को समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति, समाज या देश जिन संघर्षों से गुजरते हैं वे संघर्ष उस युग के परिवेश की उपज हुआ करते है। व्यक्ति कैसा भी हो, सामान्य या महान, युगीन प्रभावों से वह नितांत निर्लिप्त नहीं रह सकता और उपन्यास को तो समाज के संघर्ष पूर्ण अस्तित्व की व्याख्या भी कहा गया है।[1] अतः प्रेमचंद युग सन् 1918 से सन् 36 की विभिन्न परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त रहेगा। प्रथम विश्वयुद्ध सन् 1914 में प्रारम्भ हुआ था और सन् 1919 तक मे समाप्त हो गया था। उस समय भारत अँग्रेजो के अधीन था। अतः युद्ध जीतने के लिए अँग्रेजों ने भारत की शक्ति को भी काम पर लगाया था। इसका बड़ा आर्थिक कुप्रभाव भारत पर पड़ा था। तथापि युद्ध की समाप्ति पर अँग्रेजों ने भारत के हित-अहित का परवाह न करके सन् 1919 में रोलेट एक्ट पास कर दिया, जिसे भारतीय इतिहास में 'काला कानून' के नाम से जाना जाता है और जिसने भारतीयों के रहे-सहे अधिकार भी छीन लिए। इसका देश भर के नेताओं ने विरोध किया। देश में एक आँधी सी उठ पड़ी। 13 अप्रैल 1919 के दिन पंजाब के अमृतसर नामक शहर में जलियावाला बाग में जनरल डायर ने निहत्थे लोगों पर हजारों गोलियों की वर्षा की। इस घटना ने अँग्रेजों की नृशंसता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। दुनिया भर की राजनीतिक सत्ताओं ने इस घटना की बड़ी भर्त्सना की।[2]

भारतीय राजनीति में गाँधीजी का आविर्भाव इस काल की एक राजनीति और हिन्दी-साहित्य में प्रवेश अन्य दृष्टियों से समानता रखता है। दोनो करीब-करीब एक ही साथ आते हैं। गाँधी जी, कांग्रेस को तो, मुन्शी जी, हिन्दी कथा-साहित्य को बहुआयामी बनाते हुए उसे विस्तृत फलक देते हैं। दोनों की दृष्टि राजनीति और हिन्दी-साहित्य में प्रवेश अन्य दृष्टियों से समानता रखता है। दोनों करीब-करीब एक ही साथ आते हैं। दोनों की दृष्टि मानवतावादी थी। दोनों ने भारत की उन्नति को गाँवों की उन्नति में देखा। स्त्री एवं दलित कृषक वर्ग के उत्कर्ष के लिए दोनों ने जीवनभर भरसक प्रयत्न किए। दोनों हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रखर हिमायती थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रेमचंद की हिन्दी ही गाँधीजी की हिन्दुस्तानी थी। यह याद रहे कि अरबी, फ़ारसी तथा संस्कृत की शब्दावली से युक्त एक सामान्य भाषा का निर्माण गाँधीजी चाहते थे जो आम जन की भाषा हो सकती थी। प्रेमचंद की भाषा भी उसी प्रकार की है। गाँधीजी

भारतीय समाज के चौमुखी विकास के लिए प्रयत्नशील थे, प्रेमचंद जी हिन्दी-साहित्य के चौमुखी विकास की अभीप्सा रखते थे और अपने इन आदर्शों के प्राप्ति हेतु दोनों ने वैयक्तिक सुखों का त्याग किया था। गाँधीजी की भाँति प्रेमचंद भी "Simple Living and High Thinking" में मानते थे। अतः दोनों का जीवन त्याग तपश्चर्या एवं साधना का एक अद्‌वितीय उदाहरण पेश करता है। यहाँ हम डॉ. सुरेश सिन्हा के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि प्रेमचंद जी और गाँधी जी दोनों ही समानार्थक शब्द माने जाते हैं। एक उन्हीं धारणाओं की अभिव्यक्ति राजनीति के क्षेत्र में करता है, दूसरा साहित्य में। सामाजिक विषमताओं और यंत्रणाओं में घुटकर प्रेमचंद की मृत्यु हुई तो गाँधीजी की हत्या सामाजिक विषमताओं एवं धार्मिक मदान्धता के कारण हुई।[3]

भारतीय राजनीति में सक्रिय प्रवेश के पूर्व गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका में अपने अहिंसात्मक सत्याग्रह की सफलता और सच्चाई पा चुके थे। अतः सन् 1915 में उन्होंनें अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य तिलक उनके राजकीय गुरू थे। सन् 1920 में तिलक की मृत्यु हो जाने के बाद कांग्रेस की बागडोर गाँधीजी के हाथों में आयी। भारत की राजनीतिक क्षितिज पर गाँधी जी के उदय होने के पूर्व काँग्रेस का कार्य मात्र नम्र निवेदनों और विरोधपत्रों तक सीमित था। राजनीतिक दृष्टि से भारत की आजादी ही एकमात्र उनका लक्ष्य था, परन्तु गाँधीजी केवल राजनीतिक आजादी के पक्षधर नहीं थे। वे इसके साथ सामाजिक आजादी और सामाजिक न्याय के भी पक्षधर थे। अतः उन्होंने भारतीय समाज के चौमुखी विकास के लिए अनेक कार्यक्रम भी दिए। इस प्रकार महात्मा गाँधी के कारण भारतीय काँग्रेस में अद्‌भुत परिवर्तन आया। एक प्रकार से उन्होंने काँग्रेस की कायापलट कर दी। देश के इतिहास में पहली बार देश के दिमाग शिक्षित वर्ग और दिल विराट जनता का अभूतपूर्व मिलन हुआ। उन्होंने काँग्रेस को विस्तृत धरातल पर लाकर रख दिया और उसे एक बहुआयामी स्वरूप प्रदान किया। स्वाधीनता के साथ-साथ ग्राम-सुधार, खादी-उद्‌योग का पुनरुत्थान, स्वदेशी कपड़े तथा चीज वस्तुओं का प्रचार, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, खादी का प्रचार, शराबबंदी, हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास, अछूतोद्‌धार, राष्ट्रीय शिक्षा, नारी शिक्षा, राष्ट्रभाषा का प्रचार आदि भारतीय जीवन के अनेक प्राण प्रश्नों को उन्होंने प्रतिष्ठित किया जिसके कारण समूचे देश में एक नवीन चेतना का आविर्भाव हुआ। सत्य और अहिंसा का हथियार बनाया गया। असहयोग और सत्याग्रह के आंदोलन ने देश के समूचे वातावरण को बदल दिया मानों सहस्त्राधिक वर्षों से सोची हुई भारत की आत्मा जाग उठी हो। जीवन के हर क्षेत्र में राष्ट्रीयता की लहरें तरंगायित होने लगीं। प्यार और बलिदान की स्पर्द्धा

होने लगी। इस अहिंसात्मक स्वाधीनता-संग्राम के समानांतर क्रांतिकारी प्रवृत्ति भी चल रही थी।

"सर फरोसी की तमन्ना अब हमारे दिल में हैं;
देखना है जोर कितना बाज़ुए-कातिल में हैं।" [4]

जैसे-जैसे गीतों से शहादत की एक फ़िजा तैयार हो रही थी। देश में चारों तरफ "वन्दे मातरम्" के नारे लगाये जा रहे थे। चारों तरफ़ से आवाज़ें उठ रही थीं-

"नथी जाण्युं अमारे पंथ शी आफ़त खड़ी छे;
खबर छे एटली के मातनी हाकल पड़ी छे।" [5]

(अर्थात हमें मालूम नहीं है कि हमारे रास्ते में कौन-कौन सी मुसीबतें हैं, हम तो सिर्फ यही जानते हैं कि हमारी भारत माँ ने हमें पुकारा है।)

तात्पर्य यह है कि उस समय अबला, वृद्ध सभी पर राष्ट्रीयता की भावना पूरी बुलन्दियों के साथ काबिज थी। अतः एक तरफ महात्मा गाँधी, सरदार पटेल, पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे बड़े-बड़े नेता गाँधीजी के नेतृत्व में अंहिसात्मक आंदोलन चला रहे थे; वहाँ दूसरी तरफ भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, सुखदेव, बटुकेश्वर दत्त, असरफ उल्ला खाँ, सावरकर जैसे क्रांतिकारी लोग "इन्कलाब जिन्दाबाद" के नारे लगाते हुए हिंसात्मक ढंग से स्वाधीनता का आंदोलन चला रहे थे। आजकल बहुत से आतंकवादी स्वयं की तुलना उन क्रांतिकारियों से करते हैं, परन्तु यह स्मरणीय है कि उन क्रांतिकारियों के सामने एक बहुत बड़ा आदर्श था। देश की आजादी उनका मकसद था और उनकी राष्ट्रभक्ति आसमान की बुलन्दियों को स्पर्श करती थी। वे देश की अखण्डता के पक्षधर थे, न कि देश को छोटे-छोटे टुकड़ों में खण्डित करके उनकी शक्तियों को ललकारना। दूसरे उनकी लड़ाई विदेशी अँग्रेज शासकों से थी। अतः आतंकवादी को शहीदी के रंगों में रंगकर पेश करना नितांत असमीचीन ही समझा जाता जायेगा।

प्रेमचंद युग तक मुख्यतः राजनीतिक उथल-पुथल के युग की घटना घटित हो चुकी थी और असहयोग आंदोलन के रूप में एक व्यापक जंगी आंदोलन विदेशी सत्ता के विरोध में आरम्भ हो चुका था। सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम के बाद अँग्रेजी प्रभुसत्ता को सबसे बड़ी चुनौती थी। फलतः राष्ट्रीयता विरोधी सामंतवादी शक्तियों को शासक-वर्ग की ओर से प्रश्रय दिया जा रहा था। इस जन आंदोलन को रोकने के लिए सामंत युग के अवशेष राजा, महाराजा, सुल्तान, नवाब, जमींदार आदि को अँग्रेज-सत्ता प्रोत्साहित कर रही थी और उनकी राजभक्ति 'अपने देश के संदर्भ में गद्दारी' के एवज में उन्हें रायबहादुर और दीवान बहादुर जैसे खिताबों से नवाजा जा रहा था।

दूसरी तरफ हिन्दू-मुस्लिम दंगों के रूप में जातीय विद्वेष की भूमि को भी निरन्तर अभिसिंचित किया जा रहा था। प्रेमचंद जी ने भी अपने उपन्यासों में इस जातीय विद्वेष को विदेशी कूटनीति का परिणाम बताया है। उनके 'सेवासदन' नामक उपन्यास में एक मुसलमान पात्र को यह कहते हुए बताया है- "आ लिहाजा मुझे रात को आफताब पर यकीन हो सकता है, पर हिन्दुओं की नेक नीयती पर यकीन नहीं हो सकता।[6] इस कथन से ध्वनित होता कि उन दिनों में हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष काफी गहरा हो चुका था।

सरदार पटेल ने सन् 1928 में बारडोली सत्याग्रह को ज्वलंत सफलता दिलाकर सत्याग्रह के सामर्थ्य को सिद्ध कर दिया था। उसी वर्ष साइमन कमीशन का बहिष्कार हुआ। सन् 1929 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में युवक-सम्राट पं. जवाहरलाल नेहरू ने पूर्ण समाजवादी विचारधारा की नींव डाली गयी थी तथा भारत की स्वाधीनता को लेकर बड़ी ऊँची उड़ाने भरी गयी थी और कई कसमें वादें लिये गये थे। बाद में स्वाधीनता के उपरान्त राष्ट्रीय धारा के कवि माखनलाल चतुर्वेदी इसी प्रसंग को लेकर अपने स्वातंत्रोत्तर मोहभंग को एक व्यंग्य काव्य में चित्रित किया था-

उनकी यादों के तरुतृण पल्लव; लो अब तो हम छोड़ चले।
कसमें रावी के तट खायीं; यमुना के तट पर तोड़ चले।।

सन् 1930 में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने दांडीकूच करके नमक के कानून का सविनय भंग किया। गाँधीजी सचमुच के जननायक थे। साबरमती आश्रम से दांडी 'दक्षिण गुजरात' तक की यात्रा के पीछे जन जागृति ही एक मात्र उनका उद्देश्य था। वे सचमुच में 'कोटि चरण' थे। इस आंदोलन से लोगों में स्वराज्य और राष्ट्रीयता की एक लहर सी दौड़ गयी। अँग्रेज शासकों में खलबली मच गयी। गाँधीजी, सुभाषचंद्र बोस, सरदार वल्लभभाई पटेल, पं. मोतीलाल नेहरू, पं. जवाहरलाल नेहरू, अब्बासअली तैय्यबजी, इमाम साहब, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, सरोजिनी नायडू, डॉ. अन्सारी, मौलाना आजाद आदि नेताओं को जेल में ठूँस दिया गया। इसके कारण जन-आंदोलन ने और जोर पकड़ा। सन् 1931 में गाँधी इरविन समझौता हुआ, जिसके तहत इन नेताओं को मुक्त कर दिया गया। उसी वर्ष द्वितीय परिषद 'राउण्ड टेबल कान्फरेन्स' में हाजिरी देने गाँधीजी गये परन्तु अँग्रेजों की प्रपंच नीति के कारण असफल और निराश होकर वापस लौट आये। तत्पश्चात् उन्होंने पुनः सत्याग्रह का ऐलान कर दिया। सत्याग्रह की शक्ति को विश्रृंखलित करने के हेतु से कूटनीतिज्ञ अँग्रेजों ने हिन्दुस्तान में जगह-जगह कौमी हुल्लड़ों की आग को फैलाया। परिस्थितियों से समझौता करते हुए सन् 1935 में प्रान्तीय-स्वराज्य की प्राप्ति के रूप में कांग्रेस ने चुनाव करना मंजूर कर लिया।

तद्नुसार सन् 1936 में बम्बई, मद्रास, संयुक्त-प्रान्त-उत्तर-प्रदेश, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, सरहद प्रान्त आदि प्रदेशों में कांग्रेसी-मन्त्रीदलों की स्थापना हुई जो अँग्रेजों द्वारा स्थापित मार्गदर्शक सिद्धान्तों "डायरेक्टिव प्रिन्सपल्स" को केन्द्रस्थ रखते हुए राजकाज में कुछ हिस्सा लेने लगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्यकाल में एक-दूसरे के समानान्तर कई प्रवृत्तियाँ चल रही थीं। एक तरफ कांग्रेसी नेताओं द्वारा विशेषतः गाँधीजी के नेतृत्व में अहिंसा और सत्याग्रह के द्वारा भारत की स्वाधीनता के लिए आंदोलन चलाया जा रहा था; तो दूसरी तरफ भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद जैसे क्रांतिकारियों के द्वारा उसी ध्येय के लिए हिंसात्मक लड़ाई भी जारी थी। तीसरे आर्य-समाज, प्रार्थना-समाज, ब्रह्म-समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी जैसे सामाजिक, धार्मिक, सुधारवादी आंदोलन चल रहे थे। जिनके तहत भारतीय समाज में दृढ़मूल कुरीतियों की भर्त्सना करते हुए भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल्यों की तलाश हो रही थी और इस प्रकार हमारी शताब्दियों विस्मृत अस्मिता को पुनः जगाने की घनिष्ठ चेष्टा हो रही थी। इस प्रकार अनेक सामाजिक, राजनीतिक, पुनरुत्थान वादी प्रवृत्तियाँ परस्पर अंतर्लीयित होते हुए भारतीय महाद्वीप की स्वाधीनता के प्रयत्न कर रही थी।

सामाजिक दृष्टि से अनेक प्रकार की विसंगतियाँ तब भी विद्यमान थीं। ग्रामीण समाज नाना प्रकार के अंधविश्वासों एवं कुरीतियों में फँसा हुआ था। अज्ञानता के कारण उनका चौमुखी अधःपतन हो रहा था। गाँव के जमींदार, महाजन, मुखिया ही नहीं, अपितु शहर के छोटे-मोटे अधिकारी भी उनका आर्थिक, नैतिक शोषण कर रहे थे। स्त्रियों की स्थिति खास अच्छी नहीं थी। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा आदि के कारण उसकी स्थिति सोचनीय अवस्था को पहुँच गयी थी। दहेज-प्रथा के कारण ही वृद्ध-विवाह पनप रहा था और उसके रहते विधवाओं की समस्या सामने आ रही थी। स्त्री-शिक्षा का प्रचार कुछ उच्च-जातियों तक ही सीमित था। नौकरी-धँधों में बहुत ही कम स्त्रियों को समाविष्ट किया जाता था। छोटे किसानों की स्थिति बदतर थी। रात-दिन परिश्रम करने के पश्चात भी उन्हें पर्याप्त न तों अन्न प्राप्त था और न ही वस्त्र। "पूस की रात" कहानी के हल्कू की भाँति पूस के भयानक रात के जाड़ों से निबटने के लिए एक कंबल भी खरीदने की स्थिति में वे नहीं थे। घर के आगे एक गाय हो यह उनके सपनों की पराकाष्ठा होती थी। शहर के कुछेक तबकों में शैक्षणिक एवं राजनीतिक चेतना के दर्शन होते है; परन्तु वहाँ पर भी परिश्रम धर्मा मजदूरों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। नगर के हिन्दू-मुस्लिम मतभेद और मतभेद की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी और कुछ लिंगी नेता मुसलमानों के

दिलो-दिमाग में जहर घोलने का काम कर रहे थे, तो दूसरी तरफ कुछ कट्टर हिन्दुत्ववादी संस्थाएँ हिन्दुओं को भड़का रही थीं। वस्तुतः इस मुस्लिम वैमनस्य का उत्स अँग्रेजों की कूटनीति में था। अँग्रेजी शासक बराबर चाह रहे थे कि हिन्दुस्तान की इन दोनों कौमों के बीच में हमेशा दंगे-फँसाद होते रहें, अतः दोनों कौमों को भड़काने का एक भी मौका वे हाथ से जाने नहीं देना चाहते थे। इस तरह जहाँ एक तरफ प्रगतिशील-सुधारवादी शक्तियाँ एक जुट होकर स्वाधीनता के लिए भरसक कोशिश कर रही थीं; वहीं दूसरी तरफ कुछ पुरातन पंथी प्रगतिविरोधी एवं आत्मघाती शक्तियाँ इस जोड़ गुणा में व्यस्त थीं कि हमारे यहाँ के समाज में निरन्तर कुछ तोड़-फोड़ चलती रहे।

प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के पहले अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देते हुए प्रेमचंद ने साहित्यकार के लिए कहा था कि-"वह देशभक्ति तथा राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं; बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई हैं।"

प्रेमचंद ऐसी ही सच्चाई थे। देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, उसके मशाल दिखाने वाले सच्चाई थे। केवल महफिल सजाने वाले और मनोरंजन का सामान जुटाने वाले साहित्यकार हर्गिज नहीं थे। वे एक युगनिर्माता साहित्यकार थे। केवल साहित्य युग का नाम देने वाले नहीं बल्कि अपने समय के सामाजिक जीवन को एक नयी गति और एक नयी दिशा प्रदान करने वाले। जिस समय विधवा-विवाह को भी एक क्रांतिकारी सुधार समझा जाता था, उस समय नारी मात्र की पराधीनता पर उन्होंने 'सेवासदन' लिखा और वेश्यावृत्ति के सामंती आधार को उभारकर पाठकों के सामने रख दिया। जिस समय जलियावाला बाग और रोलेट-एक्ट से भारत का पद-दलित आत्म सम्मान जाग उठा था, उस समय प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' लिखकर किसानों को अँग्रेजी राज्य और उसके दलालों के अत्याचार दिखाकर बतलाया कि स्वाधीनता आंदोलन को पूरी ताकत इनकी समस्याओं को लेकर आगे बढ़ने से मिलेगी। जिस समय देश में बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय आंदोलन चल रहा था, प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में दिखलाया कि जनता अब भी लड़ रही है, वह हारी नहीं है वह जीतेगी। 'गोदान' में उन्होंने पढ़े-लिखे नौजवानों और किसानों की एकता की तरफ संकेत किया और किसानों के महाजनी शोषण का चित्र खीचा, जिसे किसान आंदोलन में तब तक जगह नहीं दी गई थी। उन दिनों जब मन्दिर प्रवेश को अछूत समस्या हल करने का सबसे बड़ा साधन माना जाता था। उन्होंने 'कर्मभूमि' में अछूत, किसानों और खेत-मजदूरों की भूमि समस्या पर दृष्टि केन्द्रित की और उसमें लगानबंदी की लड़ाईबंदी की लड़ाई को उनकी मुख्य लड़ाई बताया। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में जो संघर्ष, स्वाधीनता

आंदोलन के जो रूप दिखाए, वे सब हमारे सामने आए। यह इस बात का सबूत है कि वह देशभक्ति और राजनीति के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई थे।

प्रेमचंद भविष्यद्रष्टा थे। उन्होंने 'गबन', 'कायाकल्प', 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' ऐसे देशभक्तों का रूप दिखाया है जो वक्त आने पर जनता से विश्वासघात कर जाते थे। जिनके लिए अपना हित, अपने मालिकों का हित जनता के हितों से बढ़कर था। प्रेमचंद ने इन पात्रों के द्वारा जनता के महान शिक्षक का काम किया; उसकी चेतना को निखारने में बहुत बड़ा योग दिया।

प्रेमचंद किसी थी पार्टी के साथ नहीं थे। वह मानों किसी आने वाली पार्टी का इन्तजार कर रहे थे, जो जनता में नयी राजनीतिक चेतना फैलाएँ। उन्होंने मुन्शी दयानारायन निगम को लिखा था - "आपने मुझसे पूछा था कि मैं किस पार्टी के साथ हूँ, मैं किसी पार्टी से नहीं हूँ। इसलिए कि इस समय दोनों में से कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाला पार्टी का मेम्बर हूँ, जो अवाम अलनास (जनसाधारण) की सियासी तालीम को अपना दस्तरूल अमल (विधान) बनाएगी।" (हंसराज रहबर द्वारा 'प्रेमचंद ;जीवन और कृतित्व' में उद्धृत)।

यह पत्र उन्होंने सन् 1923 में लिखा था। सात वर्ष बाद 'विशाल भारत' में उन्होंने घोषित किया था - "हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की रचनाए छोड़ जाऊँ; लेकिन इनका उद्देश्य भी स्वतंत्रता प्राप्ति ही हो।" प्रेमचंद कलाकार की तटस्थता में विश्वास न करते थे। वह जनता के सुख-दुख में भाग लेने वाले कलाकार थे। इसलिए उनकी कथाएँ इतनी प्रभावशाली हैं।

प्रेमचंद एक यर्थाथवादी कलाकार थे। वह जीवन की सच्चाई आँकना चाहते थे, जीवन के भ्रमों का खण्डन करना चाहते थे। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक उन्होंने कथा-साहित्य में यथार्थवाद को इस तरह विकसित किया जिस तरह एक ही साहित्यकार बहुत कम कर पाता है। अपने यथार्थवाद से उन्होंने हिन्दी-कथा-साहित्य के लिए वह राजमार्ग बना दिया है, जिस पर नई पीढ़ी के लेखक निर्भय होकर आगे बढ़ सकते हैं।

प्रेमचंद का साहित्य बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का सच्चा इतिहास है। हमारी जनता की सहृदयता, सहनशीलता और वीरता उनकी रचनाओं में फूल की तरह खिली हुई है। अँग्रेजों का बर्बर पुलिस-राज, खूनी आतंक और उनके मित्रों का उनके जनता से विश्वासघात उनकी रचनाओं में काले कुहरे की तरह छाया हुआ हैं। हिन्दुस्तान के लोग एक भरा-पूरा, सुखी, सुसंस्कृत, समृद्ध जीवन बिताना

चाहते हैं - यह साध उनकी रचनाओं में बार-बार झलकती है। इस साध को पूरा करने के लिए वे कैसा पराक्रम दिखाते हैं; इसकी कथा प्रेमचंद का साहित्य है।

प्रेमचंद नाटककार भी थे, लेकिन उन्हें इतनी सफलता नहीं मिली। वह एक सफल संपादक थे और 'हंस' के जरिए उन्होंने साहित्यकारों की नई पीढ़ी को शिक्षित किया। 'मंगलसूत्र' में जो उनका अधूरा और आखिरी उपन्यास है - उन्होंने एक साहित्यकार को ही नायक बनाया है जो 'गोदान' के मेहता की तरह देश-सेवा का व्रत लेता है। वह हिन्दी लेखकों से बड़ी-बड़ी आशाएं रखते थे, जिन्हें पूरा करना नई पीढ़ी का कर्तव्य है। प्रेमचंद को बीमारी की हालत में लिखते देखकर श्री जनार्दन राय ने उनसे कहा था- "यदि कहीं कुछ हो गया तो क्या होगा?" और प्रेमचंद ने जबाब दिया- "क्या होगा मर ही तो जाऊँगा। तुम लोग हो। और फिर कौन जाने मैं मरुँगा भी।" नहीं प्रेमचंद मरे नहीं हैं। उनकी आवाज हिन्दी-प्रदेशी जनता को आज भी एक कर रही है। उसे अपने कर्तव्यों की याद दिलाती हुई आगे बढ़ने के लिए हिम्मत दिलाती है। उनकी आवाज सुदूर दक्षिण तक पहुँचकर उत्तर और दक्षिण को नजदीक लाती है। कलकत्ता और बम्बई के मजदूर उनकी आवाज सुनकर एक दूसरे के पास आते हैं।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

भारतवर्ष के इतिहास में 19वीं शताब्दी के उस वैचारिक आंदोलन का अत्यंत विशिष्ट महत्त्व है जिसने प्राचीन भारत के आचार-विचार, उसकी धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक दृष्टि को नया आयाम दे दिया था। इस देश में मुगलों के शासन के अन्तिम दिनों में भिन्न-भिन्न देशों से आने वाली यूरोपियनों से भारत का जैसे-जैसे परिचय बढ़ता गया वैसे ही वैसे भारत को ऐसा अनुभव होता गया कि संसार प्रगति के जिस निस्सीम पथ पर बढ़ रहा है उसका उसे पता भी नहीं है। भारत के विचारक यह अनुभव करने लगे कि इस देश के लोगों को भी कूप-मण्डूकता से निकलकर ज्ञान-विज्ञान के नए क्षितिज की ओर आँख उठाकर देखना चाहिए। इस प्रेरणा ने जिस अभिनव जागृति-आंदोलन को जन्म दिया उसके अत्यंत विशिष्ट नेता राजा राममोहन राय हुए। उन्हें इस आंदोलन का अग्रदूत कहा गया।[7]

राजा राममोहन राय यह जानते थे कि भारत एक अत्यंत प्राचीन देश है और संस्कृति, साहित्य, ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से उसका अतीत गौरवपूर्ण है। वह यह भी जानते थे कि भारतीय जनता अपने प्राचीन संस्कारों को सहज ही छोड़ने वाली नहीं है। अपने अतीत के प्रति उसे एक विलक्षण मोह है। दूसरी ओर राजा राममोहन राय यह भी जानते थे कि पश्चिम में ज्ञान का जो नया सूर्य उदित हुआ हैं उसके आलोक से वंचित रहकर कोई जाति जीवन-संघर्ष में टिक नहीं सकती।[8] इसी से जागरण के अग्रदूत भारतीय नेताओं ने यह प्रयत्न किया कि भारतीय अध्यात्म और पाश्चात्य विज्ञान दोनों का सामंजस्य किया जाय।

पश्चिम में बहुत पहले ही वैचारिक आंदोलन आ चुका था उसने यूरोप में एक नया ही युग दिया, एक नयी ही सभ्यता दी। पश्चिम के इस नवजागरण ने जिन नवोदित राष्ट्रों को विश्व के रंगमंच पर उपस्थित किया, उनमें सबसे अधिक महिमाशाली ब्रिटेन हुआ। इस 'परम उन्नति' अँग्रेज जाति से भारतीयों का जब संबंध हुआ। तब यह स्वाभाविक ही था कि इस देश के जागरुक व्यक्तियों को अपने पिछड़ेपन पर परिताप होता।[9]

अवध के नवाब से दीवानी का अधिकार प्राप्त करने वाली ईस्ट-इण्डिया कंपनी के अँग्रेज अधिकारियों से भारत का जब आगे चलकर परिचय हुआ तब एक प्रकार की निराशा भी उसे हुई। कंपनी के साहबों को किसी नवीन चेतना का अग्रदूत मानते उसे बना नहीं। कंपनी का शासन भारत के कल्याण के निमित्त नहीं

चलाया जा रहा था और यही कारण था कि भारत की उसके प्रति निराशा ने सशक्त का रूप ले लिया। सन् 1857 में इसी विद्रोह का विस्फोट हुआ। अँग्रेज इतिहासकार इसे 'सिपाही विद्रोह' कहते हैं। किंतु वस्तुतः यह था भारतीय-स्वातन्त्र्य-आंदोलन का प्रथम सिंहनाद। कंपनी की प्रबल सामरिक शक्ति के आगे सन् 1857 का यह आंदोलन विफल हो गया।

सन् 1853 में जब कंपनी के अधिकार-पत्र की अवधि को बढ़ाने का प्रस्ताव साधारण-सभा में उपस्थित हुआ तब इस कंपनी के कटु आलोचक दूरदेशी ब्राइट ने कहा था कि कंपनी के शासन में भ्रष्टाचार है, अव्यवस्था है और उसने भारत की जनता की विपन्नता एवं दयनीयता को बहुत बढ़ा दिया है।[10] सन् 1857 की क्रान्ति ने यह सिद्ध किया कि ब्राइट के आक्षेप के कुछ सार हैं। सन् 1857 के युद्ध का सबसे बड़ा लाभ भारत को यही हुआ कि अँग्रेज जनता ने यह समझा कि कंपनी के शासन में अनेक प्रकार की बुराइया हैं और उतने बड़े देश का शासनकार सनद पाई हुई किसी कंपनी के जिम्मे नहीं छोड़ा जा सकता है। विद्रोह की अग्नि के शमित होने के तुरंत बाद ही रानी विक्टोरिया ने सन् 1858 में भारत का शासनभार ग्रहण कर लेने की घोषणा की। भारतीय जनता ने, जो डलहौजी के शासन के अनाचार से परिचित थी, इस शासन-परिवर्तन को उत्सुकता के साथ देखा।

1 नवम्बर सन् 1858 को रानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़ा गया और उसमें ब्रिटेन के शासन ने भारतीय जनता को यह आश्वासन दिया कि नई शासन-व्यवस्था, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता की नीति लेकर चलेगी। भारत की जनता के हृदय में सदा से अपने शासक के प्रति एक विलक्षण प्रकार की भक्ति रही है। रानी विक्टोरिया को उदार शासन व्यवस्था का आश्वासन देते देखकर भारत की जनता की वही राज-भक्ति रानी के प्रति उमड़ पड़ी और भारत ने वह मातः राजेश्वरी के संबोधन से अविहित हुई। रानी के घोषणा-पत्र ने ईस्ट इण्डिया कंपनी के कुशासन का जो अन्त किया उसके कारण भी यह सर्वथा स्वाभाविक था कि भारतीय जनता में सन् 1857 के आंदोलन के विफल हो जाने के बाद भी एक प्रकार का उछाह पैदा हो। देश में इस प्रकार एक नवीन आशा का संचार हुआ।

इतिहास का यह एक अजीब अचम्भा-सा है कि भारत की यही राजभक्ति प्रजा राजद्रोही, विप्लवकारी और अँग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए विवश करने वाली

बन गयी। भारतीय इतिहास की इस विलक्षणता का निर्देश किए बिना 19वीं और 20वीं शताब्दी की किसी भी साहित्य चेतना अथवा धारा को सम्यक रूप से हृदयंगम नहीं किया जा सकता हैं। अस्तु, हम नीचे के अंश में भारतीय इतिहास की इन मुख्य घटनाओं का स्मरण कर लेना चाहेंगे, जिन्होंने इन दो शताब्दियों में भारतीय जन-मानस के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से भाग लिया है।

जे. एन. फर्कहार ने उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाले भारतीय नवजागरण की प्रेरणा के रूप में निम्नलिखित तीन तथ्यों का नामोल्लेख किया गया है।

1-ब्रिटिश सरकार,
2-ईसाई मिशनरी
3-भारत के महान पौरस्त्य विद्वान (जिन्हें उन्होंने ग्रेट ओरियन्टलिस्ट कहा गया है।)[11]

फर्कहार के इस मत को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु हम ऐसे अनुभव करते हैं कि भारतीय नवजागरण की प्रेरणा, यदि एकांगी रूप से नहीं भी, तो मुख्य रूप से देश को उन महान विचारकों और क्रांतिदूतों से प्राप्त हुई जिसकी चर्चा फर्कहार की सूची में सबसे अंत में हुई है। यह इसलिए कि ब्रिटिश शासन सच्चे अर्थ में देश की भावना को संस्पर्श करने का अवसर 1 नवम्बर सन् 1858 के पहले शायद ही पा सका था। ईसाई मिशनरियों का प्रचार-प्रसार कार्य भी सन् 1813 के पहले बहुत प्रभावकारी नहीं था। ईस्ट इण्डिया कंपनी के शासकों की ईसाई धर्म के प्रचार के प्रति कोई विशेष अभिरुचि नहीं थी। अवध के नवाब की दीवानी प्राप्त यह कंपनी उत्तराधिकारी शासन के रूप में हिन्दू और मुसलमान धर्म-संस्थाओं के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह कर रही थी। 18वीं शताब्दी के अन्त तक कंपनी की सरकार ने ईसाई धर्म का प्रचार करना राजनीतिक दृष्टि से गलत समझा और ईसाई मिशनरियों को राजकीय संरक्षण नहीं दिया। सन् 1813 में इग्लैण्ड में इस बात के लिए कंपनी की आलोचना के परिणमस्वरूप सन् 1813 का विल्मफोर्स एक्ट बना। अस्तु, स्पष्ट है कि सन् 1813 के पहले ईसाई मिशनरियों को भारत में खुलकर प्रचार करने की सुविधा नहीं थीं।

जिन राजा राममोहन राय को नवयुग की चेतना का अग्रदूत कहा गया है, उनका आविर्भाव-काल है - सन् 1772-1833। भारत के इस नवयुग का इतिहास राजा राममोहन राय की सृष्टि है और इसी से सर्वथा उचित होगा कि हम उनके विषय में थोड़ा विचार कर ले। राजा राममोहन राय के संबंध में 'सिन्ध आब्जर्वर' करॉची ने लिखा कि आधुनिक युग में शिक्षा, धर्म, समाज अथवा राजनीति जिस क्षेत्र का विचार कीजिए राजा राममोहन राय उसके प्रेरणा-स्तम्भ सिद्ध होंगे और इस अर्थ में आधुनिक भारत के सभी सुधारक उनके मानस-पुत्र हैं।[12]

राजा राममोहन राय के हृदय में फ्रांसीसी राज्यक्रांति के नेताओं के प्रति बड़ी श्रद्धा भावना थी। कहा गया है कि वे अपने जीवन के अन्तिम समय में भी (सन् 1830 में) ज़ब इंग्लैण्ड की यात्रा के क्रम में कैंप ऑफ गुड होप पहुँचे और वहाँ उन्होंने फ्रान्स के झण्डे को किसी फ्रान्सीसी जहाज पर लहराते हुए देखा बरबस मुँह से झण्डे के प्रति जयध्वनि निकल पड़ी और वे फ्रान्सीसी जहाज पर जाने का आग्रह करने लगे।[13] कहना नहीं होगा कि फ्रांस की राज्य क्रांति ने केवल पश्चिम को ही आंदोलित नहीं किया था बल्कि उसने सुदूर पूर्व के गुलाम देशों में भी क्रान्ति की चेतना फैलायी थी। स्पेन में जब उत्तरदायी वैधानिक शासन-व्यवस्था कायम हुई तब उन्हीं राजा साहब ने उत्साहित होकर कलकत्ते के टाउन हाल एक भारी भोज दिया था।[14] स्पष्ट है, राजा साहब के हृदय में वही अग्नि प्रज्वलित थी, जिसका परिणाम यूरोप में फ्रान्सीसी क्रांति के रूप में देखा गया। राजा राममोहन राय सच्चे अर्थ में भारतीय होने पर भी, न तो पाश्चात्य संस्कृति के विरोधी थे और न अँग्रेजों के शासन के। लेकिन राजा साहब व्यक्तिगत-स्वातंत्र्य के प्रबल पक्षधर थे। वे ऐसा समझते थे कि संसार में यदि कहीं भी मनुष्य जाति परतंत्र है तो दूसरों की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रहता। राजा साहब यह समझते थे कि स्वतंत्रता मानव जाति का जन्मसिद्ध अधिकार है। राजा साहब को अमेरिका की स्वाधीनता के इतिहास से भी बड़ी प्रेरणा मिली थी और वे स्वाधीन अमेरिकी जाति के प्रशंसक थे। उन्होंने कभी कहा था कि यदि भारत में सुधार के उनके प्रयत्न व्यर्थ जायेंगे तो वे ब्रिटिश साम्राज्य से हटकर स्वाधीन अमेरिका के किसी कोने में जा बसेंगे। इंग्लैण्ड में जब सन् 1833 में स्वीकृत होने वाले चार्टर ऐक्ट की चर्चा चली तब राजा साहब भारत का विचार प्रस्तुत करने के लिए इंग्लैण्ड गए। वहाँ उन्होंने ब्रिटिश जनता के आगे भारत की माँग प्रस्तुत की। उनकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि

शासन के उच्चतम पदों पर योग्यतानुसार प्रतिष्ठित होने का भारतीयों को पूर्ण अधिकार हों। भारत में वे ऊँचे पद ब्रिटेन निवासियों के लिए सुरक्षित रखे गये थे। स्वतंत्रता और समता के आकांक्षी राजा साहब को यह विषमता और असमानता स्वीकार नहीं होती थी। क्योंकि इस व्यवस्था के अंतर्गत स्वयं भारत में भारतीयों के अधिकार सीमित हो जाते थे।

स्पष्ट है, राजा साहब के हृदय में वही अग्नि प्रज्वलित थी, जिसका परिणाम यूरोप में फ्रान्सीसी क्रांति के रूप में देखा गया। राजा राममोहन राय सच्चे अर्थ में भारतीय होने पर भी, न तो पाश्चात्य संस्कृति के विरोधी थे और न अँग्रेजों के शासन के।[15] लेकिन राजा साहब व्यक्तिगत-स्वातंत्र्य के प्रबल पक्षधर थे। वे ऐसा समझते थे कि संसार में यदि कहीं भी मनुष्य जाति परतंत्र है तो दूसरों की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रहता। राजा साहब यह समझते थे कि स्वतंत्रता मानव जाति का जन्मसिद्ध अधिकार है। राजा साहब को अमेरिका की स्वाधीनता के इतिहास से भी बड़ी प्रेरणा मिली थी और वे स्वाधीन अमेरिकी जाति के प्रशंसक थे। उन्होंने कभी कहा था कि यदि भारत में सुधार के उनके प्रयत्न व्यर्थ जायेंगे तो वे ब्रिटिश साम्राज्य से हटकर स्वाधीन अमेरिका के किसी कोने में जा बसेंगे। इंग्लैण्ड में जब सन् 1833 में स्वीकृत होने वाले चार्टर ऐक्ट की चर्चा चली तब राजा साहब भारत का विचार प्रस्तुत करने के लिए इंग्लैण्ड गए। वहाँ उन्होंने ब्रिटिश जनता के आगे भारत की माँग प्रस्तुत की। उनकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि शासन के उच्चतम पदों पर योग्यतानुसार प्रतिष्ठित होने का भारतीयों को पूर्ण अधिकार हों। भारत में वे ऊँचे पद ब्रिटेन निवासियों के लिए सुरक्षित रखे गये थे। स्वतंत्रता और समता के आकांक्षी राजा साहब को यह विषमता और असमानता स्वीकार नहीं होती थी। क्योंकि इस व्यवस्था के अंतर्गत स्वयं भारत में भारतीयों के अधिकार सीमित हो जाते थे। राजा साहब ने इंग्लैण्ड में जो कुछ भी किया था उसकी प्रशस्ति गाते हुए रसिकचंद्र मलिक ने टाउन हाल, कलकत्ता में आयोजित एक सभा में 5 अप्रैल सन् 1834 को यह स्वीकार किया था कि सन् 1833 का चार्टर ऐक्ट, यदि किसी अर्थ में आकर्षक हो सका तो उसका श्रेय राजा साहब को प्राप्त है।[16]

यहाँ ध्यान देने की एक बात यह है कि राजा राममोहन राय की चेतना मध्यवर्गीय चेतना थी। उस युग के मध्य वर्ग की आशा-आकांक्षा, हर्ष-विषाद, शक्ति

और सीमा के बड़े सशक्त निर्देशक राजा साहब थे। आगे चलकर यही मध्यवर्ग, भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन का उद्घोषक बन गया।

रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के प्रकाशन के बाद भारत का शासन-सूत्र प्रत्यक्ष रूप से महारानी के हाथ आ तो गया लेकिन महारानी तो सात समुन्दर पार रहा करती थीं। इस देश में उनके प्रतिनिधि लोग जो रहते थे वे ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के पोषण के लिए नियुक्त थे और उनका उद्देश्य भारत में किसी प्रकार के कल्याण राज्य की स्थापना करना नहीं था। रानी विक्टोरिया से बड़ी आशा आकांक्षा रखने वाली भारतीय जनता ने अत्यन्त दुख के साथ यह अनुभव किया कि अँग्रेज शासक विशुद्ध साम्राज्यलिप्सु हैं। जनतंत्र और प्रजा के जिन अधिकारों के लिए वे स्वयं अपने देश में संघर्ष करते रहे हैं, उन्हें वे अपनी भौगोलिक सीमा के बाहर होते ही भूल जाते हैं। इतिहास की गवाही है कि ब्रिटेन के साम्राज्यवाद और ब्रिटिश पूँजीवाद को फलने-फूलने का समय सबसे अधिक अवसर रानी विक्टोरिया के शासन-काल में ही प्राप्त हुआ। यह सत्य है कि भारत का सामंतवाद सन् 1857 के बाद विनष्ट हो गया और अगले 20 वर्षों तक ब्रिटिश जाति भारत में निर्विघ्न शासन करने की स्थिति में आ गयी थी। भारतीय प्रजा ब्रिटिश शासन को अपरिहार्य मानकर स्वीकार कर ली थी तथापि, यह भी इतना ही सत्य है कि भारत में एक निराशा की लहर फैल रही थी। अँग्रेजी शासन जन सामान्य के ~~जीवन के~~ जीवन को समुन्नत बनाने में असफल सिद्ध हो ही गया था। उससे भी बड़ी बात यह थी कि भारतीय जनता को जो, थोड़ी-बहुत राजनैतिक सुविधाएं पहले प्राप्त थीं वे एक के बाद दूसरी छिनती जा रही थीं। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के आदि-संस्थापक मिस्टर ह्यूम ने बड़ी ईमानदारी के साथ तत्कालीन दयनीय परिस्थितियों का सर आकलैण्ड कोलविन के नाम अपने पत्र में दिग्दर्शन कराया था। अँग्रेजों ने भारत में कल्याण-राज्य के बदले पुलिस राज्य खड़ा किया, इससे पुलिस का दबदबा स्वभावतः बढ़ा। अबाध अधिकार से अनाचार को निमंत्रण मिलता है। इसी कारण भारत की पुलिस ज्यादती करती गयी और देश के सामने एक बड़ी समस्या के रूप में उपस्थित हुई। जनतांत्रिक व्यवस्था में व्यक्ति के अधिकारों का सजग प्रहरी न्याय शासन होता है। एक तो भारतीय जनता को राजनैतिक अधिकार ही नहीं प्राप्त थे; दूसरी न्याय की व्यवस्था इतनी महंगी थी और इतना समय लेने वाली थी कि उसका कोई वास्तविक लाभ जनता को मिल

नहीं पा रहा था। इसी आलोच्य काल में भारत की जनता प्रेस संबंधी स्वाधीनता छिन गयी। सभा करने के अधिकार से उसे वंचित किया गया और शासन ने नवीन सुधारों का पूरे बल के साथ विरोध किया।[17]

पुलिस के दमन-कार्य और सरकार के प्रतिगामी कानूनों के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि सारे देश के सुधी-समाज के बीच प्रज्वलित होने लगी।[18] कांग्रेस के इतिहास के प्रमाण पर यह विदित है कि मिस्टर ह्यूम के हाथ में ऐसी रिपोर्टों की सात जिल्दें थीं जिनसे पता चलता था कि देश के भिन्न-भिन्न भागों में विद्रोह का भाव फैलने लगा था। सिपाही विद्रोह के लिए अँग्रेज़ों की दृष्टि में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक उत्तरदायी थे।[19] संदेह, शंका ऐसा वातावरण बन गया था कि छोटी-छोटी घटनाएं भी बड़ी-बड़ी संभावनाएं रखने लगी थीं। सन् 1859 में पंजाब में राजद्रोह फैलाने के अपराध में एक फकीर को फाँसी की सजा दी गयी थी। इस घटना की शिक्षा सेवा के मुसलमान सदस्यों पर ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि उन्होंने यह सोचना आरम्भ किया कि जिस सरकार का ऐसा रुख हो उसकी सेवा में रहना निरर्थक है। इसी सिलसिले में हमारा ध्यान 'वहावी आंदोलन' की ओर जाता है। नेविल चेम्बर लेन ने यह शिकायत की थी कि वहावी विदेशों में अँग्रेज सरकार के विरुद्ध कुचक्र रच रहे हैं। हम ऐसे ही एक दूसरी घटना का भी स्मरण कर सकते हैं। सन् 1871 में जब भारी संख्या में वहावियों पर पटना में मुकदमें चल रहे थे, उन मुकदमों का विचार करने वाले न्यायाधीशों की हत्या कर दी गयी। जानकारों ने यह भी सुझाया है कि लाडमेव की हत्या में भी इन्हीं वहावियों का भी हाथ था।[20]

वहावियों के अतिरिक्त पूना के महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में भी तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के आगे बाधाएँ खड़ी की। सन् 1879 में दक्षिण में डकैतियों का एक सिलसिला ही खड़ा हो गया था। दक्षिण के इस आंदोलन के नेता ने सरकार के विरुद्ध घोषणाएँ जारी की। इस आंदोलन को अँग्रेज सरकार ने प्रयास किया। उर्दू, फारसी की शिक्षा को विशेष सरकारी सप्ताह तक न दबा सकी थी। लार्ड मेवों के शासन-काल में मुसलमानों को अपने पक्ष में लाने का सरकार ने प्रयास किया। उर्दू, फारसी की शिक्षा को विशेष सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ और मुसलमान छात्रों को राज्य की ओर से वृत्तियाँ भी मिलीं। लेकिन इन बातों का

कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यह लार्डमेवों की वहावियों के हाथों हत्या से स्पष्ट ही है।

हेनरी डाडवेल ने यह स्वीकार किया है कि इन आंदोलनों का उद्देश्य पश्चिमियों को भारत से निकालना था।[21] महाराष्ट्र में जो आंदोलन हुआ उससे अँग्रेज शासक इतना डर गये थे - उसका पता वार्तले फेरे के कैनिंग के नाम इस पत्र से [illegible] चलता है, जिसमें उसने लिखा था कि जब अँग्रेज यूरोप में किसी युद्ध में लगे होंगे अथवा अमेरिका में लड़ रहे होंगे, उसी समय भारत में विन्ध्य पर्वत और तौचुन्द्र के बीच विद्रोह की आग कहीं भड़क उठेगी।[22]

स्पष्ट है कि सन् 1857 के विद्रोह के बाद भारत में शमशान की भी शान्ति नहीं आ गई थी। जैसे-जैसे अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार बढ़ता जा रहा था वैसे ही वैसे देश में जागरण फैलता जा रहा था। भारत के बंगाल, बम्बई, मद्रास और महाराष्ट्र जैसे बड़े-बड़े प्रान्तों में इस बात की भी आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था कि भारतीयों का अपना संगठन हो। 'नेशनल कान्फ्रेन्स' और 'राष्ट्रीय काँग्रेस' की स्थापना के बहुत पहले इन प्रांतों में संगठन कार्य करने के लिए संस्थाएँ बन चुकी थीं। ऐसी संस्थाओं में कुछ का उल्लेख काँग्रेस का इतिहास में हुआ है। बंगाल के 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन', 'बम्बई एसोसिएशन' और महाराष्ट्र में पूना की 'सार्वजनिक सभा' तथा इन संस्थाओं के प्रमुख कार्यकर्ताओं का यथा डा. राजेन्द्र लाल मित्र, रामगोपाल घोष, सर्वमंगल दास नाथूभाई, श्री नौरोजी फरुन्द जी, दादाभाई नौरोजी, जगन्नाथ शंकर, सेठ एम. वीर राघवाचार्य, एम. सुब्बारावजी, सुब्रह्मण्य अय्यर का पुण्य स्मरण करके राष्ट्रीय आंदोलन के पीछे उनकी प्रेरणा को अंगीकार किया ही जाता हैं। इन संस्थाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बंगाल का इण्डियन एसोसिएशन हुआ जिसकी स्थापना सन् 1876 में हुई और उसके प्रेरणा-स्तम्भ हुए श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी। हिन्दू काँलेज में पढ़ने वाले लोगों ने अंतरर्ष्ट्रीयता का जो प्रचार करना आरम्भ किया था, उसका इस संस्था ने बड़ा ही सशक्त विरोध किया और उग्र भारतीय राष्ट्रीयता का प्रचार किया।[23]

इस समय के भारतीय नेताओं के आगे सबसे बड़ा प्रश्न राज सेवाओं में भारतीय के प्रविष्ट होने के अधिकार-विषयक था। सन् 1879 में जब इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा की उम्र घटाकर 19 वर्ष की कर देने के लिए पार्लियामेन्ट

में प्रस्ताव आया तब उसके विरुद्ध भारतीय जनता का लोकमत जागरित करने के लिए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बम्बई और मद्रास प्रान्तों में अलख जगाया।

भारत के इस नवोदित राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढ़ाने में बहुत दूर तक समाचार-पत्रों ने हाथ बँटाया। डॉ. पट्टाभिसीतारम्मैया ने काँग्रेस के इतिहास में लिखा है कि सन् 1857 में भारत करीब 475 अखबार छपते थे जिनमें अधिकांश प्रान्तीय भाषाओं के थे।[24] समाचार-पत्रों का, जनमत तैयार करने और जागरण फैलाने में जो योगदान हो सकता है उसे सहज ही समझा जा सकता है। लेकिन भारत परतंत्र था और यह अँग्रेजों को मालूम था कि परतंत्र देश में समाचार-पत्रों पर नियंत्रण रखना कितना आवश्यक है। मुनरों ने एक साम्राज्यवादी दृष्टि से इस विषय में यह कहा था कि स्वाधीन बंधन मुक्त पत्रकारिता और विदेशियों का शासन ये दो विरोधी बातें है। यह इसलिए कि स्वतंत्र पत्रकारिता का धर्म होता है विदेशी शासन से देश को मुक्त कराना।[25]

ग्रेट-ब्रिटेन की प्रतिगामी चेतना ने भारत में समाचार-पत्रों के ऊपर नियंत्रण रखने की आवश्यकता पर जोर दिया। परिणाम यह हुआ कि जब ग्रेट-ब्रिटेन में अनुदार दल का शासन हुआ तब सन् 1878 में भारत को वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट का तोहफा मिला। इस नए प्रेस ऐक्ट का उद्देश्य देशी समाचार-पत्रों को आतंकित करना था।

सन् 1880 में इंग्लैण्ड में ग्लैडस्टन के उदार दल शासनारुढ़ होने का अवसर मिला। इस नयी सरकार के प्रतिनिधि होकर लार्ड रिपन (सन् 1880-84) भारत आए। सन् 1882 में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट को रद्द कर दिया । सन् 1833 के इलबर्ट बिल के अन्तर्गत भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन अभियुक्तों के मुकदमों की जाँच का अधिकार मिला।

सन् 1885 में भारतीय काँग्रेस का जन्म हुआ। अँग्रेजों के विरुद्ध देश में वातावरण तैयार हो गया था। विरोध का यह वातावरण किसी समय एक विस्फोट के रूप में आ सकता था, ऐसी आशंका होने लगी थी। भारत की सार्वजनिक सेवा के अवकाश प्राप्त अधिकारी मिस्टर ह्यूम को इस खतरे का अनुमान पुलिस की गुप्त रिपोर्टों के प्रमाण पर हो गया था।[26] कांग्रेस की स्थापना के लक्ष्य के संबंध में मिस्टर ह्यूम का निम्नलिखित कथन तो ऐतिहासिक बन गया है :- A safety valve for the scape of great and growing forces generated by our own action,was urgently needed and no more efficacious safety valve than our Congress movement possibility be devised. [27]

भारत में काँग्रेस जो कुछ राष्ट्रीय जागृति के लिए कर रही थी उसके प्रति आयरलैण्ड की स्वशासन की माँग करने वाली जनता की सहानुभूति थी। दादाभाई नौरोजी ने यह बताया था कि "आयरलैण्ड के आंदोलन-कारियों ने उनसे यह कहा कि भारत वापस जाने पर वे अपने देशवासियों को यह बता दे कि आयरलैण्ड की स्वतंत्रता के सैनिक भारतीयों के साथ हैं।"[28] धीरे-धीरे भारत के शासकों और अँग्रेज जाति ने यह अनुभव कर लिया कि भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन में काँग्रेस एक बड़ी शक्ति है। सन् 1904 की काँग्रेस ने एक पग और आगे बढ़कर यह माँग की कि ब्रिटेन के हाउस ऑफ कामन्स में भारत को प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। लन्दन की इण्डिया कौन्सिल और भोर की केन्द्रीय और प्रान्तीय कार्यकारिणी समितियों में भारतीयों को नियुक्त करना चाहिए।

लार्ड कर्जन का शासनकाल सन् 1898 से 1905 तक रहा। दुर्भाग्यवश यह समय भारत के लिए बड़े संकट का समय सिद्ध हुआ। प्रजा प्लेग जैसी महामारी से तबाह हुई और अकाल ने किसानों की आर्थिक स्थिति को अत्यन्त संकटपूर्ण बना दिया। इसी समय भारत को अफगानिस्तान और तिब्बत के युद्ध में फँसना पड़ा। दुर्भिक्ष, महामारी और आर्थिक मंदी से पिसी जाने वाली जनता पर अँग्रेजों के युद्ध का व्यय-भार एक करारी चोट के रूप में पड़ा।

"भारतीयों के संबंध में लार्ड कर्जन का मनोभाव बड़ा ही अनुदार था। भारतीयों के चरित्र को वह असत्यपूर्ण मानता था।"[29] लार्ड कर्जन ने राजभक्ति भारतीय प्रजा के मानस को झकझोर दिया। शासन भार ग्रहण करने के अगले ही वर्ष उसने 'कलकत्ता कारपोरेशन ऐक्ट' लागू किया जिसके अन्तर्गत उसने कारपोरेशन के अधिकारों को सीमित कर दिया। सन् 1904 में 'इण्डियन यूनिवर्सीटिज ऐक्ट' पास करने के अतिरिक्त उसने 'ओफिशियल सिक्रेट ऐक्ट' भी पास किया।

लार्ड कर्जन भारत में सबसे अधिक बदनाम अपनी बंग-विभाजन योजना के कारण हुआ जिसे उसने 1903 में प्रकाशित किया। वह बंगाल को टुकड़े-टुकड़े करके उस राष्ट्रीय जागृति को दबा देना चाहता था, जिसका आभास सुचतुर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को हो गया था। बंगालियों ने यह अनुभव किया कि लार्ड कर्जन बंग भाषा-भाषी जन समुदाय को तितर-वितर करके उनके जातीय अभिमान पर आघात करना चाहता था। बंग-विभाजन के पीछे अँग्रेजों की एक जबर्दस्त कूटनीति

काम कर रही थी। जो आगे चलकर सन् 1905 में कर्जन की योजना ने क्रियात्मक रूप धारण किया और बंगाल में प्रचण्ड विद्रोह भड़क उठा।[30]

महात्मा गांधी ने हिन्द स्वराज्य में लिखते हुए यह कहा था कि बंग-विभाजन से ही ब्रिटिश साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना आरम्भ हुआ।[31] बंगाल कौंसिल में बंग विभाजन के विरुद्ध भाषण करते हुए श्री भूपेन्द्र नाथ वसु ने कहा था कि अँग्रेजों से परिणाम में हमें घृणा ही मिली और अब से हमें विघटन की उन शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना है जो हमारे आगे खड़ी हो गई हैं।[32]

लार्ड कर्जन ने आंदोलन की रीढ़ तोड़ देने के विचार से ढ़ाका की यात्रा की और वहाँ के तत्कालीन नवाब सलीमुल्ला के साथ सौदा किया। नवाब को रुपयों की आवश्यकता थी। कर्जन ने बहुत कम सूद पर उसे अपेक्षित राशि उधार दे दी। उसने नवाब को यह भी सुझाया कि नये प्रान्त की राजधानी होने का गौरव उसके नगर ढ़ाका को प्राप्त होगा और फलस्वरूप नवाब का भी मानवर्द्धन होगा। श्री जवाहरलाल नेहरू जी ने कर्जन की इस नीति का भण्डाफोड़ करते हुए लिखा है - "इसी समय एक नया मोहरा सामने आया। यह था मुसलमानों को अल्पसंख्यक मानकर इनके साथ अलग और खास बर्ताव की राजनीतिक माँग।" यही वह कारण है कि बंगाल के विभाजन का यह स्थानीय आंदोलन, स्थानीय न रहकर सार्वदेशिक हो गया।

पंजाब में लाला लाजपत राय और सरकार अजीत सिंह इस नये जागरण के नेता हुए। महाराष्ट्र में तिलक ने भी आंदोलन छेड़ा किन्तु बंगाल का आंदोलन सबसे अधिक उग्र हुआ। बंगाल के नेताओं में मुख्य थे- कृष्ण कुमार मिश्र, पुलिन बिहारी दास, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, शचीन्द्र प्रसाद वसु, सतीशचन्द्र चटर्जी और भूपेशचंद्र नाग। ये नेता बंगाल से निर्वासित भी किए गये थे। बागेरहाट (खुलना) जिला की 16 जुलाई 1905 की बैठक में जनता ने यह निश्चय किया था कि छः महीने तक मातम मनाया जाय और किसी भी प्रकार का सार्वजनिक उत्सव न मनाया जायँ। 'अमृत बाजार पत्रिका' में 17 जुलाई 1905 को लाल मोहन घोष ने अपील प्रकाशित कराकर मैनचेस्टर के बने बिलायती कपड़ों का बहिष्कार करने का प्रस्ताव किया।

पुलिस रिपोर्टों से विदित है कि बंग आंदोलन 'वन्दे मातरम्' का आंदोलन हो गया। जमींदारों ने अपने कारिंदों के द्वारा आंदोलन को बढ़ावा दिया। "इस विषय

में सबसे रोमांचक इतिहास तो छः वर्षीया बालिका का है जिसने विदेशी दवा खाने से इन्कार किया था।"[34]

बंग विभाजन के विरुद्ध सन् 1905 में जो विद्रोह हुआ उसने देश को बहिष्कार नीति की भेंट दी और संगठन की आवश्यकता का अनुभव कराया। आगे चलकर असयोग आंदोलन के जमाने में जो कुछ भी हुआ उसका पूर्वाभास इसी आंदोलन में प्रकट हुआ।

बंग आंदोलन ने देश के जाग्रत पौरुष को प्रत्यक्ष किया। लार्ड-कर्जन ने काँग्रेस की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था कि वह तो सोडा वाटर का गैस हैं। उन्होंने यह भी कहा था कि काँग्रेस प्रस्ताव पास करने के बदले कुछ करके दिखाएँ तो अधिक उत्तम हो। बंग आंदोलन ने उन्हें दिखा दिया है कि भारत की राष्ट्रीयता कुछ कर सकती है। विदेशी माल का बहिष्कार करके भारत ने ब्रिटिश जनता को दिखा दिया कि भारत भी प्रतिक्रियात्मक विद्रोह कर सकता है। नेताओं ने बहिष्कार का आंदोलन तक चलाना चाहा था जब तक बंगाल विभक्त था। लेकिन इस सीमित उद्देश्य को लेकर चलने वाले इस आंदोलन में भी अनेक संभावनाएँ थीं। एक ओर तो विदेशी माल का व्यापार करने वाले व्यावसायियों को घाटे में रखा तो दूसरी ओर देशी उद्योग-धंधों को इससे अनायास प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। करघा उद्योग और देशी सूती मिलों को एक नई ही जिन्दगी मिल गई। राष्ट्रीयता की आवाज कुछ इस तरह से गूँजने लगी कि सारा देश यह सोचने लगा कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भारत को अपने ही साधनों के बल पर करनी चाहिए। नीचे की तालिका से स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है -

वर्ष	मिलों की संख्या	लूम संख्या	मजदूर संख्या	पूँजी (पौण्ड में)
1882-83	62	15000	53600	445700
1907	227	67700	225400	13160000

स्वदेशी आंदोलन से गरीबों को तो लाभ हुआ ही, भारत के पूँजीपतियों को भी इसने बड़ा लाभ पहुँचाया। सच तो यह है कि ऐसा आंदोलन पूँजीपतियों का विशेष लाभ भी है।

जिस समय भारत में यह जागरण फैला हुआ था उसी समय जापान की रूस पर विजय हुई। एशिया के एक राष्ट्र ने यूरोप के एक राष्ट्र पर जो विजय पाई उससे

भारत के स्वाभिमान का भी उत्साहवर्धन हुआ और उसे यह अनुभव हुआ कि पश्चिम के राष्ट्र अपराजेय नहीं हैं। उसी समय रूस में पहली क्रांति हुई जिससे जार के विरुद्ध होने वाले उस आंदोलन को दबा देने के लिए वैधानिक परिषद देने का अपनी प्रजा से वादा किया। उसके वादे से वहाँ के नरम पंथियों को संतोष हुआ और जार के विरुद्ध होने वाली क्रांति क्षीण हो गयी।

इस इतिहास की आवृत्ति भारत में भी आगे चलकर हुई। काँग्रेस का नरम दल शासन-सुधार पर जोर देने लगा। सन् 1906 में काँग्रेस का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य स्थिर हुआ। उक्त काँग्रेस ने निम्नलिखित तीन तात्कालिक माँगें पेश कीं -

क- इण्डियन-सिविल-सर्विस की परीक्षा इंगलैण्ड और भारत में साथ-साथ हो।
ख-भारत में भी वायसराय और बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों की कार्य-कारिणी परिषदों में भारतीयों को यथेष्ट प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।
ग-केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाएँ अधिकाधिक प्रतिनिधि संस्थाएँ हों और उनको देश की अर्थ और शासन नीति का नियमन करने का भी अधिकार हो। स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के अधिकार भी बढ़ाये जायें।

काँग्रेस ने इस अधिवेशन में बहिष्कार-आंदोलन, स्वदेशी आंदोलन, कुटीर-उद्योग आंदोलन और राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन का समर्थन किया। "काँग्रेस के अगले कार्यक्रम की अब चार दिशाएँ हुईं - स्वराज्य, बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा।"[35]

"हिन्दी केसरी में प्रकाशित होने वाले एक लेख के कारण तिलक को सन् 1908 में छः वर्षों की कैद की सजा हुई और वे जेल में डाल दिए गये।"[36] तिलक के जेल जाने के बाद पंढरपुर (जिला शोलापुर) के तीर्थस्थान में 29 जुलाई को एक बड़ा कस्बाती दंगा हुआ। सरकारी रिपोर्टों में इसके आयोजकों एवं इसमें भाग लेने वाले दोनों को ही निम्न जाति के लोग बताया गया है। तिलक को मंच से हटा दिए जाने के पश्चात महाराष्ट्र में उग्रवाद वैयक्तिक आतंकवाद का मार्ग पकड़ा जिससे नासिक स्थित अभिनव भारत समूह सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका उदय 1907 में 'मित्र मेला' से हुआ था जिसकी स्थापना सावरकर बंधुओं ने 1899 में की थी।[37]

सन् 1907 में 9 अप्रैल से 23 अप्रैल तक अरविन्द ने 'वन्दे मातरम्' नामक अपने दैनिक पत्र में सविनय अवज्ञा की चर्चा उठाकर इस सविनय अवज्ञा की दो

दिशाएँ स्थिर हुई। पहली का उद्देश्य संगठन के द्वारा ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करना और उसके शासन का चलना असंभव कर देना था और दूसरी का ब्रिटिश व्यवस्था के साथ असहयोग करके उसे घाटे में डालना एवं परिणामतः देश को ब्रिटिश पूँजीवाद के शोषण से बचाना था।

सविनय अवज्ञा आंदोलन ने कचहरियों का बहिष्कार, सरकारी नियंत्रण में पड़ी हुई शिक्षण संस्थाओं से असहयोग और उस पुलिस से असहयोग करना जिसके द्वारा सरकार दमन चक्र परिचालित करती थी, निश्चित किया। इस आंदोलन का अंतिम लक्ष्य करबंदी आंदोलन को बढ़ावा देना था। सन् 1909 की 21 जुलाई को 'कर्मयोगी' नामक पत्र में अरविन्द ने इस आंदोलन का रूप और भी अधिक स्पष्ट किया और कहा कि जैसे 18वीं सदी के अमेरिकन आंदोलन का नारा था - प्रतिनिधि नहीं तो कर नहीं, वैसे ही हमारा नारा होना चाहिए 'शासन-तंत्र' के ऊपर हमारा नियंत्रण नहीं हैं, तो हम सहयोग नही करेंगे।[38]

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही इस तरह की संस्थाओं की स्थापना होने लगी थी। किन्तु तब वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं और बहुत कारगर नहीं हुई थी। बंग-विभाजन ने इस आंदोलन को गति दी। 'युगान्तर' नामक पत्र ने भी इस आंदोलन को प्रगतिशील बनाया। इस आंदोलन की दिशाएँ निम्नलिखित थीं -

1-अस्त्र-शस्त्र का संग्रह

2-सरकारी अधिकारियों और उनके जासूसों की हत्या

3-राजनैतिक डकैती

इस आंदोलन ने राजनैतिक स्वातंत्र्य की उपलब्धि के लिए सशस्त्र विद्रोह किया और लक्ष्य सिद्धि ले साधन-स्वरूप हिंसा को अंगीकार किया। दल के जो सदस्य मुखबिर हो जाते थे उन पर खास नजर रखी जाती थी और उनकी हत्या कर दी जाती थी। अलीपुर षड्यंत्र केस के मुखबिर गुसाईं की हत्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।[39]

इस आंदोलन में अरविन्द घोष और वारीन्द्र घोष के नाम लिए गये। सन् 1908 में अरविन्द पर एक मुकदमा भी चलाया गया था किन्तु, विश्वसनीय साक्षी के अभाव में सरकार वह मुकदमा हार गयी। 30 अप्रैल सन् 1908 को मुजफ्फरपुर (बिहार) में खुदीराम बोस ने स्थानीय जिला जज किंग्सफोर्ड के धोखे में श्रीमती और कुमारा कैनेडी पर बम फेंका जिसके कारण उनकी मृत्यु हो गयी। खुदीराम बोस के सहयोगी प्रफुल्ल नामक व्यक्ति ने जब यह देखा कि वह गिरफ्तार कर लिया जाएगा

तो उसने आत्महत्या कर ली। खुदीराम बोस पर मुकदमा चला और उन्हें फाँसी की सजा हुई। इस फाँसी की खबर पाकर शोक मनाया गया। इस घटना से सारा देश हिल गया। तभी तो खुदीराम बोस की तस्वीरें सारे देश में बँटी थीं। सरकार इस विप्लव से घबड़ा उठी। उसने भूपेन्द्रनाथ दत्त को, जिन्होंने अपने 'युगान्तर' नामक पत्र के द्वारा हिंसा का खुलकर समर्थन किया था, जेल की लम्बी सजा दी। लेकिन दण्ड का भय जनता के हृदय से भागता जा रहा था। सन् 1908 को महाराष्ट्र में तिलक को गिरफ्तार किया गया। आन्ध्र के नेता सर्वोत्तम राव को भी नौ महीने के लिए जेल में डाल दिया गया था। "अँग्रेजों का क्रोध कुछ इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ था कि जब सर्वोत्तम राव ने अपनी सजा के विरुद्ध अपील की तो उसकी नौ महीने की सजा को बढ़ाकर हाईकोर्ट ने तीन साल की सजा कर दी।"[40] सन् 1908 में सरकार ने दो महत्त्वपूर्ण कानून पास किए -

1-सभाबन्दी

2-प्रेस ऐक्ट

इन कानूनों का भारत की जनता ने बड़ा विरोध किया। केन्द्रीय धारा सभा में सभाबंदी कानून के बिल पर भाषण करते हुए श्री गोखले ने सरकार को सावधान किया था कि देश के युवक हाथ से निकले जा रहे हैं और यदि उन्हें वश में न रखा जा सका तो हमें दोष मत देना। [41]

इससे स्पष्ट है कि देश का यह वर्ग हिंसात्मक ढंग से संघर्ष करने के लिए खड़ा हो गया था। देश के बाहर भी ऐसी संस्थाएँ बनीं और उन्होंने भी भारतीय आतंकवाद को पर्याप्त बल पहुँचाया। इस क्रम में रासबिहारी बोस, लाला हरदयाल, अमीरचंद आदि के नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू महासभा के प्राण वीर सावरकर भी एक ऐसे ही अनोखे शूरमा सिद्ध हुए थे।

पंजाब में आर्यसमाज ने भी आतंकवाद को बल पहुँचाया। पंजाबी क्रान्तिकारियों में ऐसे बहुतेरे लोग थे जो आर्यसमाज से संबद्ध थे। बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र और पंजाब आतंक के खास अच्छे और मजबूत गढ़ सिद्ध हुए।

भारत में काँग्रेस के उग्र दल और आतंकवादियों के लिए जो कुछ हो रहा था उसे देखकर अँग्रेज हतप्रभ थे। बंगाल में बंग-विभाजन के विरुद्ध जब आंदोलन छिड़ा था तब आंदोलनकारियों ने माँ काली के समक्ष आशीर्वाद लिया था। बंगाल में यह भी कहा गया था कि राष्ट्रभक्ति प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है। आगे चलकर अरविन्द ने राष्ट्रीय-मुक्ति-आंदोलन को प्रभु-प्रेरित आंदोलन बताया। अपने

एक भाषण में मुम्बई में कहा था स्वतंत्रता के लिए प्रत्येक देश को बलिदान देना होता है। परमात्मा ने भारतीयों से बलिदान माँगा है और हमें प्रभु की उस इच्छा को पूरा करना है।

अँग्रेजो को यह समझ में नहीं आ रहा था कि राजनैतिक अधिकारों और शासन-विषयक सुधारों की माँग इस ढंग से क्यों की जा रही थी। वास्तव में अँग्रेज जाति के लिए यह अनुभव बिल्कुल नया था। उसके अपने देश में जिस आसानी से बिना रक्तपात किए शासन-क्रम बदला करता है वही उनका देखा हुआ था। उसके बाहर उन्हें देखने का अभ्यास नहीं था। एक पराधीन राष्ट्र को अपनी मुक्ति के लिए क्या कुछ करना पड़ता है, यह डालवेल जैसे व्यक्तियों को विदित नहीं था। शायद इसी से उन्होंने आक्रोश के साथ अपना यह फतवा दिया है -It was one thing to encourage enlightened leaders who desired to take their place in the adminstration of the empire, It was quote another to encourage men who would use any power they could obtain to promote the over throw of British rule in India. [42]

कहना नहीं होगा कि ये विचार उस साम्राज्यवादी ब्रिटेन के थे जो भारत को अपने पंजे से मुक्त करने को तैयार नहीं था। लेकिन लार्ड-कर्जन के शासन-काल के अन्तिम दिनों से भारत में जो असंतोष और विद्रोह भाव फैल रहा था उसकी वे उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे। इस युग में जो ब्रिटिश नीति चलाई जा रही थी उसकी पोल खोलते हुए श्री आर. सी. मजूमदार ने बताया है कि - एक ओर तो सरकार दमन कर रही थी और दूसरी ओर नरम पंथियों को अपना समर्थन देकर उनको प्रभावकारी बना रही थी ताकि देश में विद्रोह न फैले। उनके अलावा देश की भिन्न जाति, धर्म और स्वार्थ से जनता के बीच पारस्परिक द्वेष, घृणा और अलगाव पैदा कर फूट डालकर राज्य करना चाहती थी।

देश के अगले इतिहास की सचमुच यही दिशा है ही। सन् 1905 में कर्जन के उत्तराधिकारी के रूप में लार्ड मिन्टों की नियुक्ति हुई। एक वर्ष के बाद ही इंग्लैण्ड में अनुदार शासन का तख्ता पलट गया और लिबरल दल शासनारुढ़ हुआ। लार्ड मिन्टों को शासन का व्यापक अनुभव था। भारत आने के बाद सन् 1906 में ही उसने यह अनुभव किया कि शासन-सुधार के नाम पर कुछ-न-कुछ करना ही होगा। इंग्लैण्ड का लिबरल शासन दुनियाँ को यह दिखाना चाहता था कि वह भारत के प्रति भी उदार हैं, लेकिन सच्चाई यह थी कि वह भी भारत को कुछ देना नहीं चाहता था। इसी भाव स्थिति में 'मार्ले-मिन्टो-शासन-सुधार' की योजना

तैयार हुई। स्वयं लार्ड मार्ले ने अपने शासन-काल में किए जाने वाले सुधार का पर्दाफ़ाश यह कहकर किया -"यदि यह कहा जाता हो कि ये शासन-सुधार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दुस्तान को प्रातिनिधिक व्यवस्था की ओर ले जाते हैं तो कम से कम मैं तो इनसे कोई वास्ता नही रखूँगा"[43]

मार्ले-मिन्टो-सुधार योजना के अन्तर्गत भारत के प्रशासन में निम्नलिखित परिवर्तन हुए :-

क- वायसरॉय की कार्यकारिणी समिति ने एक भारतीय की सदस्य रूप में नियुक्ति - यह नियुक्ति सर्वप्रथम बंगाल के श्री सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा को प्राप्त हुई।
ख- प्रान्तीय कार्यकारिणी समितियों ने भारतीय सदस्यों की नियुक्ति - जिन प्रान्तों में गवर्नरों की कार्यकारिणी समिति नहीं हों उनमें वैसी समिति का गठन।
ग- प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा-सभाओं के सदस्यों की संख्या वृद्धि - इन सभाओं में मनोनीत तथा निर्वाचित दो प्रकार के सदस्य होते थे। इस सुधार के अनुसार दोनों प्रकार के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी।

मार्ले मिन्टो सुधार की ये तीन दिशाएँ थी :-

1- भारत में एक ऐसा मंच तैयार करना जिसके माध्यम से भारतीयों के राजनीतिक विचारों का अनुमान किया जा सके।
2-विद्यमान धारा-सभाओं को अपेक्षाकृत अधिक प्रातिनिधिक और प्रभावकारी बनाना।
3-भारतीयों के शासन की कार्यकारिणी समितियों में नियुक्ति।

काँग्रेस के नरमपंथियों को इन सुधारों से संतोष हुआ और अँग्रेजों की नीयत के प्रति उनकी आस्था और दृढ़ हुई।[44] लेकिन काँग्रेस के उग्रपंथियों को इस सुधार योजना से तनिक भी संतोष नहीं हुआ। एक बात यह जरूर हुई कि यह समझ लिया गया कि उनके बहिष्कार आंदोलन के आंशिक सफलता का परिणाम मोर्ले-मिन्टो सुधार है। इससे संघर्ष व्यर्थ नहीं गया। एक दूसरी बड़ी बात यह हुई कि भारत की आजादी का प्रश्न संसार के सामने खड़ा हो गया।

अँग्रेज इस देश की अखण्डता के द्रोही थे। इससे इस योजना में उन्होंने एक खतरनाक बात रखी जिसके फलस्वरूप धारा सभाओं का चुनाव हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए पृथक-निर्वाचन क्षेत्र के आधार पर हुआ। हिन्दुओं और मुसलमानों की उम्मीदवारी की पृथक-पृथक योजनाएं भी रखी गयीं। इस प्रकार मुसलमानों को एक विशेष प्रकार का पक्षपातपूर्ण संरक्षण दिया गया, जिसकी न तो माँग थी और न ही अपेक्षा ही।

इन सबका उद्देश्य था कि मुसलमान-हिन्दुओं से अलग जा पड़े और उनके मुकाबले अँग्रेजों को अपना अधिक हित समझे और कालान्तर में उन पर निर्भर हो जायँ। इससे अँग्रेजों को बन्दरबाँट करने का मौका भी मिलता। 29 दिसम्बर सन् 1907 को अँग्रेजों के इशारे पर ही मुस्लिम लीग नामक संस्था का जन्म हुआ, जिसका पहला अधिवेशन कराची में हुआ। मुस्लिम लीग का जन्म किन भावनाओं को लेकर हुआ, यह इस बात से ही प्रकट है कि मुस्लिम लीग का अधिवेशन कराची में करने का कारण यह बताया था कि मुहम्मद बिन कासिम पहली बार इस्लाम का मशाल लेकर आया था। लीग के प्रथम सभापति ने जो बढ़-चढ़कर भाषण दिया था उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश नीचे अंकित हैं -

" If a handful of a men under a boy could teach Kalima to the territory of Sind and promilgat the law of the true shariat of the God and his rasurl, can seven crores of Musalman not make their Social & Political life pleasant ." [45]

इसी संस्था ने देश में साम्प्रदायिक आधार पर पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनवाएँ। देश के नेताओं ने यह सोचा कि मुसलमानों को राजी खुशी करके पृथक निर्वाचन पद्धति का अन्त कराना चाहिए और यहीं से मुसलमानों की इस संस्था मुस्लिम लीग की खुशामद शुरु हो गयी। हिन्दू नेताओं और राष्ट्रीय काँग्रेस ने जिस अनुपात में मुसलमानों की चिरौरी की, उसी अनुपात में उनकी माँगें भी बढ़ती गईं और उन्हें तब तक संतोष नही हुआ जब तक उन्होंने देश का अंग-भंग ही नही कर लिया।[46]

अँग्रेजों की राजनीति की सफलता इस बात में अवश्य देखी जा सकती है कि इस मुस्लिम लीग को खड़ा कर उन्होंने काँग्रेस के सारे देश की प्रतिनिधि संस्था होने के दावे के आगे प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिया। देश की राजनीति के अगले इतिहास ने काँग्रेस ने दो राष्ट्रों की इस कल्पना का उग्र विरोध करते हुए देखा है। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के संघर्ष का आज भी यही मौलिक आधार है।

जार्ज-पंचम के राज्याभिषेक के अवसर पर बंगाल विभाजन को रद्द कर दिया गया और इसका परिणाम हुआ कि बंगालियों की राष्ट्रीयता का पारा बहुत नीचे आ गया जैसा कि पं. जवाहरलाल जी ने कहा है कि उनका जोश ठण्डा पड़ गया।[47] जिन मुसलमानों को बड़े-बड़े प्रलोभन देकर बंगाल विभाजन के आंदोलन के विरुद्ध खड़ा किया गया था उनके बीच गहरी हताशा फैली और अँग्रेजों की नीयत के प्रति उनकी आस्था डगमगा गयी थी। इस तरह लार्ड कर्जन की दूरदर्शिता के कारण बंगाल का जो विभाजन हुआ, उसने पहले तो बंगाल की राष्ट्रीयता को गहरी चोट दी और बाद में बंग विभाजन के रद्द होने पर मुसलमानों को अन्यथा सोचने पर विवश किया था। इस ओट में नियति का यह एक खेल ही चल रहा था।

जुलाई सन् 1914 में जर्मनों के साथ अँग्रेजों का युद्ध छिड़ा। इस युद्ध को इतिहास ने प्रथम महासमर का नाम दिया है। जिस समग्र भारतीय जनता के नाम पर काँग्रेस स्वतंत्रता की माँग करती थी उसकी आशा आकांक्षा काँग्रेस के प्रस्ताओं में भरसक प्रकट नहीं हो पाई। भारतीय जनता युद्ध के समय में उतना उत्साहित नहीं थी जितना उत्साहित काँग्रेस के थे।[48] साधारण अनुभव तो यही था कि ब्रिटेन की इस परेशानी में ही कहीं भारत की मुक्ति का संकेत भी छिपा हुआ है। सन् 1914 में छः वर्षों की सजा काटकर तिलक बाहर आ गये थे। उनकी ही प्रेरणा से देश अँग्रेज की स्थिति का लाभ उठाना चाहता था। प्रभावशाली नेताओं में केवल गाँधीजी ही केवल एक ऐसे व्यक्ति थे जो ब्रिटेन की मुसीबत का लाभ उठाना पसन्द नहीं करते थे और बिना किसी शर्त के ब्रिटेन के युद्ध प्रयत्नों के साथ सहयोग कर रहे थे।

जर्मनी के कैसरशाही के विरुद्ध युद्धरत मित्र राष्ट्रों ने उद्देश्य की घोषणा करते हुए यह दावा किया था कि वे संसार में स्वतंत्रता और स्व-शासन के अधिकार को अक्षुण रखने के लिए लड़ाई लड़ रही थी।[49]

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने देखा कि काँग्रेस दो भागों में बँटी हुई है। नरम दल के नेता श्री गोखले का 19 फरवरी 1915 को देहान्त हो गया। इस दल के दूसरे नेता दीनशा वाचा जराजीर्ण हो गये थे। ऐसे समय दोनों दलों को मिलाने का एक मौका मिल सकता था किन्तु दुर्भाग्यवश यह मेल न हो सका।

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने होमरूल की उचित माँग की कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वाधीनता का अधिकार है। उनके अनुसार होमरूल की आवश्यकता इसलिए भी है कि भारत के साधनों का उपयोग उसके हितों में न करके ब्रिटिश साम्राज्य के लिए

किया जा रहा था। ब्रिटेन की साम्राज्यवादी लिप्सा के कारण भारतीय हितों की बड़ी हानि हो रही थी। यद्यपि उपकृत ब्रिटिश जनता के हृदय में रह-रहकर यह बात आती थी कि भारत में उसकी सेवा का पुरस्कार मिलना ही चाहिए।[50]

भारत में जागृति की जो लहर आयी थी वह अँग्रेजी शिक्षा, जनतंत्र विषयक ब्रिटिश आदर्श और रूस पर जापान के विजय से प्रेरित थी। लार्ड मिन्टों को बातचीत के कम में श्रीमती बेसेन्ट ने यह तथ्य बहुत स्पष्ट ढंग से समझा भी दिया था। इस जाग्रति के थोड़े और कारण थे जिनकी ओर श्रीमती बेसेन्ट ने अपने काँग्रेस अध्यक्षपदीय भाषण में इशारा किया था। वे समझती थी कि आधुनिक विज्ञान के विकास में बौद्धिक गुलामी के आल-जाल को खो दिया हैं। इनसाइक्लोपीडिया की रचना ने ज्ञान का एक विस्तीर्ण सागर, मनुष्य के सामने लहरा दिया। रूसी और टामस पैनी की रचनाओं ने मनुष्य जाति को एक नई ही चेतना दी थी। जापान में होने वाला परिवर्तन और रूस के मुकाबले पराकम का प्रदर्शन चीन ने मंचूवंश का पराभव और चीनी गणराज्य की स्थापना ये कुछ ऐसी ही महत्त्वपूर्ण प्रेरक तथ्य हैं। जिनसे स्वतंत्रताकांक्षी भारतीय लोकमानस अप्रभावित नहीं रह सका। ब्रिटेन ने अपनी साम्राज्यलिप्सा में जागरण की इस बाढ़ के आगे बाँध बनाना चाहा। उसने पर्शिया के उत्थान में बाँधा और अपने ही समान दूसरे साम्राज्यलिप्सु रूस के साथ साठ-गाठ करके अपना प्रभाव क्षेत्र स्थिर कर लिया। इधर रूस में स्थिति परिवर्तन हुआ और जारशाही का अंत हो गया, रूस की कांति ने स्थिति को ऐसा मोड़ दिया जिसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता। भारत ने उत्साह के साथ देखा कि बात ही बात में रूस की जारशाही समाप्त हो गई और चीनी राजाओं के स्वेच्छाचार का भी अंत हो गया। उसके सामने ही छोटा सा देश जापान भी था। जिसने रूस की विशाल शक्ति के साथ संघर्ष किया, विजय पाई और एशिया के राष्ट्रों को यह बताया कि यूरोप की बड़ी से बड़ी शक्तियों को भी युद्ध क्षेत्र में पराजित किया जा सकता है। यदि भारत ने इन प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ब्रिटिश-सिंह की परवाह न करके स्वराज्य की माँग प्रस्तुत की तो यह स्वाभाविक ही था।

साम्राज्यवादी ब्रिटेन को उच्च आदर्शों की दुहाई देते देखकर श्रीमती बेसेन्ट को देखकर लगा था कि वह भारत में एक फूटा ढोल पीट रहा है। अपने समस्त आदर्शों के विषय में मापदण्ड के दो आधार - एक स्वदेश के लिए और दूसरा उपनिवेश के लिए - ग्रहण कर वह पाखण्ड कर रहा था।[51]

अमेरिकन प्रेसीडेन्ट विल्सन ने भारत की स्वाधीनता की माँग के औचित्य का समर्थन किया। स्वयं अँग्रेजों की नौकरशाही के व्यूह के बीच सर एस सुब्रहम्णयम ऐय्यर निकलकर बाहर आए और उन्होंने होमरूल आंदोलन का समर्थन किया सरकार ने जब इसका बुरा माना तो 'सर' की उपाधि लौटा दी।[52] उन्होंने विल्सन के पास एक पत्र भेजा जिसकी अमेरिका में बड़ी प्रशंसा हुई। स्पष्ट है कि स्वतंत्र अमेरिकी राष्ट्र भारत की आशा आकांक्षा का अनुभव कर रहा था।

होमरूल आंदोलन की सफलता के कुछ कारण गिनाए गये हैं जो निम्नलिखित है -

क- होमरूल के नेताओं ने भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुर्नगठन का सिद्धांत स्वीकार कर लिया था और होमरूल आंदोलन की शाखाएँ प्रांतों में उसी आधार पर खड़ी की गई। भारत में प्रान्तों का गठन शासकीय आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप हुआ था। बंग-आंदोलन ने यह सुझा दिया था कि प्रान्तो के गठन का वह आधार लोकप्रिय तो नहीं ही है, राष्ट्र की भिन्न-भिन्न इकाइयों के विकास की दृष्टि से भी अवैज्ञानिक है।

ख-श्रीमती एनी बेसेन्ट की प्रेरणा से भारत के महिलाओं की बड़ी संख्या राष्ट्र यज्ञ में योगदान देने आयी। उनका आना भारत के प्रसार के लिए बड़ा ही हितकर हुआ।

ग-होमरूल आंदोलन का धर्म के साथ संबंध जुड़ने से यह लाभ हुआ कि साधु-संन्यासियों के माध्यम से इस आंदोलन का संदेश गाँव-गाँव में फैल गया।[53]

उपरिलिखित राउन्डटेबल ग्रुप के भारत शासन-सुधार संबंधी प्रस्ताव की घोषणा इरविन मान्टेगू, भारतमंत्री द्वारा 20 अगस्त सन् 1917 को हुई। इस घोषणा में यह कहा गया कि बादशाह सलामत श्री सरकार की यह नीति है कि भारत में क्रमशः ऐसे शासन-सुधार किए जायँ कि ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य अंग के रूप में भारत क्रमशः ऐसे शासन-सुधार किए जायँ कि ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य अंग के रूप में भारत क्रमशः पूर्णसत्ता प्राप्त देश बन सके।

गोलमेज में निम्नलिखित रिपोर्ट सामने आयी तथा मंत्रिमण्डल की राय के बिना ही वह कार्य कर सकते हैं -

1- व्यवस्थापक मण्डल को भंग करना, बुलाना या उसका कार्यक्रम तय करना।

2-कानून की स्वीकृति देना या न देना कानून के विषय में ब्रिटिश सरकार को सूचित करने के लिए स्वीकृति को रोकना।
3-खास बिलों को पेश करने की मंजूरी देना।
4-आवश्यकता होने पर साधारण समय में बड़ी कौंसिलों का संयुक्त अधिवेशन करना।
5-नाजुक हालत में कौंसिल के विरुद्ध मत देने पर भी कार्यवाई करना।
6-केन्द्रीय कौंसिलो के विरुद्ध मत देने पर भी कार्यवाई करना।
7-इन्हीं के लिए नियम बनाना।
8-कौंसिलों की बैठक न होने के समय, मंत्रियों की सलाह से आर्डिनेन्स बनाना।[54]

'नेशनल लिबरेशन फेडरेशन' नामक संस्था का जन्म मान्टेगू की प्रेरणा से हुआ। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कलकत्ता में एक बडी सभा बुलाकर प्रस्तावित सुधार योजना का समर्थन किया। काँग्रेस का एक विशेष अधिवेशन 29 अगस्त सन् 1918 को बम्बई में बुलाया गया और हसन इमाम की अध्यक्षता में चार दिनों तक विचार-विमर्श करने के बाद एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ जिससे इस बात का दावा किया गया कि भारत स्वशासन के सर्वथा योग्य है। उसी प्रस्ताव में यह भी माँग की गयी कि प्रान्तीय क्षेत्र में, जैसे सत्ता के हस्तान्तरित करने का निश्चय किया है, वैसे ही केन्द्र में भी होना चाहिए और वायसराय का स्थान शासन-तंत्र में ठीक वही होना चाहिए जो किसी उत्तरदायी शासन-तंत्र में सर्वोच्च शासक का होता हैं। काँग्रेस के इस प्रस्ताव से सरकार ने यह अनुरोध किया कि वह इस बात को मूल मान ले कि भारत को स्वराज्य प्राप्ति का पूर्ण अधिकार है। काँग्रेस तथा दूसरे स्वतंत्रताकांक्षी प्रगतिशील नेताओं को यह स्वीकार ही नहीं हो पा रहा था कि एक विदेशी संसद को भारत के भाग्य का निर्णय करने का अधिकार हो सकता है और वे यह भी मानने के लिए तैयार नहीं थे कि अँग्रेजों की जरा सी भी नीयत भारत को स्वराज देने को है।[55]

इस सुधार योजना का पर्दाफाश ब्रिटिश पार्लमेन्ट में ही उस समय हुआ जब लार्ड सिडेनहम ने प्रस्तावित कानून का विरोध किया। उसके विरोध का उत्तर देते हुए सरकार की ओर से कर्जन ने जो कुछ कहा था वह इस संबंध में किसी प्रकार के भ्रम के लिए अवसर नहीं देता।[56]

गाँधीजी अब तक भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के मंच पर बहुत सक्रिय नहीं थे। उन्होंने इस बीच चम्पारण के निलहे कोठीवाल अँग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन किया था और चम्पारण की दलित, शोषित जनता का पक्ष लेकर उन्होंने गोरों के अनाचार का पर्दाफाश किया था। मान्टेगू-चेम्सफोर्ड ऐक्ट के प्रश्न पर भी गाँधीजी प्रभावकारी सिद्ध नही हुए थे वरन उन्होंने काँग्रेस को छोड़ दिया था। लेकिन अब उन्होंने एक गम्भीर घोषणा की कि रॉलट कमीशन की सिफारिशों को यदि असली जामा पहनाया जाएगा तो वे सत्याग्रह युद्ध छेड़ देंगे।[57] गाँधीजी ने देश में घूम-घूमकर रॉलट ऐक्ट का विरोध करने की प्रेरणा जगाई। गाँधीजी का महत्त्व क्या हो गया था यह सन् 1919 की रिपोर्ट से ही विदित है जिसमें यह कहा गया कि उन्हें लोग जिस आदर भाव से देखते थे उसके लिए 'पूजा' शब्द का प्रयोग अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता।

गाँधीजी ने सत्याग्रह आरम्भ किया था। वे ही उसे स्थगित कर सकते हैं। सरकार ने उनकी अपील नामंज़ूर कर दी और सत्याग्रह के बंदी नहीं छोड़े। सरकार ने गाँधीजी की माँग की उपेक्षा कर यह सोचा होगा कि इसी में उसकी शान है पर यथार्थ में इस नीति से उलटे सरकार के प्रति जनता की घृणा बढ़ गयी। सरकार यदि सत्याग्रह को हानि समझती है, तो उसे समाप्त करने का अवसर उसके हाथों खो गया। जनता सरकार द्वारा किए गये अपमान से कुपित है। वह भी इस मोह में पड़ गयी है कि वह सत्याग्रह स्थगित कर सरकार से हार मान लेती हैं। हमारी सम्मति में सरकार ने अपनी जड़ता दिखलाकर संसार की आँखों में अपने को अपराधी प्रमाणित कर दिया है, पर यदि जड़ता का जवाब जड़ता से दिया गया, तो हमारी बुद्धिमत्ता कहा रही। हम संसार को कैसे दिखला सकेंगे कि हम ही असली सभ्य और सुशिक्षित हैं।

गाँधीजी ने 'उपवास' के साथ ही सविनय-अवज्ञा-आंदोलन छेड़ दिया। पहले यह आंदोलन 30 मार्च को होने वाला था जिसकी तिथि बाद में बदलकर छः अप्रैल हो गयी थी। उचित समय पर परिवर्तन की सूचना सर्वत्र पहुँच नहीं पाई थी। इससे दिल्ली में 30 मार्च को ही स्वामी श्रद्धानन्द जी के नेतृत्व में एक भारी जुलूस निकला। इस जुलूस के साथ एक बड़ी बात देखी गयी। जुलूस को रोकने के लिए गोरों की फौंज आगे बढ़ रही थी और गोली मारने की धमकी भी दी। गोरो को उम्मीद था कि जुलूस तितर-बितर हो जाएगा लेकिन गोरों को स्वामी जी का उत्तर मिला 'लो मारो गोली'। इस उत्तर से गोरे सिपाही भौचक रह गये।[58]

अप्रैल सन् 1919 में पंजाब में कुछ दुखद घटनाएँ घटित हुई। पंजाब में राष्ट्रीय आंदोलन का प्रसार अँग्रेज सैनिक हितों के प्रत्यक्ष विरोध में जान पड़ता था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि जहाँ तक उनके लिए शक्य होता वे पंजाब को आंदोलन के प्रभाव से बचातें। सन् 1919 में काँग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में होने वाला था। पंजाब का तत्कालीन निरंकुश शासक माईकेल ओ डायर ने पंजाब के दो बड़े काँग्रेसी नेताओं - डॉ. किचलू तथा डॉ. सत्यपाल को 20 अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया। उसकी गिरफ्तारी के विरुद्ध जब जनता ने आंदोलन किया तो गोली चलाई गयी। उत्तेजित भीड़ ने नेशनल बैंक के भवन में आग लगा दी। उसके यूरोपियन मैनेजर की हत्या कर दी और सरकारी गोदाम को लूट लिया।[59] स्थिति ऐसी बिगड़ गयी कि पंजाब में सैनिक शासन हो गया। 13 अप्रैल सन् 1919 को जलियावाला बाग की सभा के समय अँग्रेजों ने भीषण हत्याकाण्ड किया। मिस्टर वासवर्थ ने आगे चलकर नौकरशाही का आतंक फैलाने के लिए एक और विचित्र काम किया। उसने पंजाब में प्रायश्चितगृह बनाने का निश्चय किया जहाँ इकट्ठा होकर भारतीय इस बात के लिए खेद प्रकट करते है कि उन्होंने अँग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन छेड़कर भयानक अपराध किया था।[60] गनीमत हुई कि इस धंधे में लगने वाले खर्च की व्यर्थतता का अनुभव अधिकारियों को हो गया और वासवर्थ की यह परिकल्पना साकार नहीं हो सकी। जलियावाला काण्ड सारे देश को झकझोर दिया। सबसे बड़ी बात यह हुई कि गाँधीजी अब यह समझ गये कि अँग्रेज सरकार के साथ किसी प्रकार का समझौता संभव नहीं है और उसके साथ किसी प्रकार का सहयोग करना पाप है।[61] इस घटना के परिणाम के संबंध में माइकेल एडवार्ड्स ने एक बड़ी बात कही है कि - जेनरल ओ, डायर की बन्दूक के धमाके ने ही ब्रिटिश शासन का उद्घोष किया।[62]

सन् 1922के मार्च महीने में मिस्टर पूमफिस्ट नामक अँग्रेज जज के सामने वक्तव्य देते हुए उन्होंने बताया सरकार से सहयोग करने की अपनी नीति को छोड़कर असहयोग पर वे निम्नलिखित तीन कारणों से उतरने के लिए विवश हुए थे-

क- रॉलट ऐक्ट - जिसने भारतीय जनता की सारी स्वाधीनता का अपहरण किया।

ख- पंजाब का हत्याकाण्ड - जिसके सामने नादिरशाह और चँगेज खाँ के अत्याचार भी मात हो गये।

ग- ब्रिटिश प्रधानमंत्री के आश्वासन का खोखलापन।[63]

जनता के बीच जागरण फैल रहा था और भारत की आत्मा मुक्त होने के लिए छटपटा रही थी। इसी बीच सन् 1920 में आर्थिक संकट की स्थिति से देश को गुजरना पड़ा। सन् 1920 के आरम्भ में करीब 200 हड़ताले हुईं जिनमें 50,000 से अधिक मजदूरो ने भाग लिया।[64] काँग्रेस शांतिमय ढंग से ही आजादी की लड़ाई लड़ना चाह रही थी। सन् 1920 की विशेष काँग्रेस के अध्यक्ष लाला लाजपत राय ने बड़े अच्छे ढंग से स्थिति का निरुपण करते हुए कहा था कि भारत की परम्परा और उसकी प्रवृत्ति कांति के अनुकूल नहीं है। लेकिन फिर भी अपनी स्वाभाविक मन्थर गति को छोड़कर हम जब चल पड़ते हैं तब हम प्रतिरोधिनी शक्तियों के प्रति बेपरवाह भी हो जाते हैं और फिर कोई भी संस्था अपने जीवन काल में क्रांति से बच भी नहीं सकती।[65]

सन् 1921 से लेकर सन् 1922 के बीच में देश में ऐसे आन्दोलन भी चलाए गये जिनका राजनीतिक महत्त्व कोई खास नहीं है फिर भी इस युग के जनमानस को समझने के लिए बहुत सहायता मिलती है। वैसे उन आन्दोलनों में से एक है - अकाली आंदोलन। यह आंदोलन सिक्ख संप्रदाय तक ही सीमित रहा। इसका उद्देश्य गुरुद्वारों और सिक्ख धार्मिक संस्थाओं में सुधार करना था। अकाली आंदोलन ने विलासी महन्तों को अधिकार - वंचित करने के लिए अहिंसक आंदोलन खड़ा किया और उन धर्म संस्थाओं पर कब्जा किया। इधर अँग्रेजी सरकार दुर्नामि महन्तों की सहायता में चली आई और उसने अकाली आंदोलनकारियों का दमन किया। नवम्बर सन् 1922 तक दमन का यह क्रम चलता रहा। लेकिन अंत में सरकार को झुकना पड़ा।[66] दूसरा आंदोलन मालावार के मोपलों का था। मोपलों का आंदोलन यद्यपि हिन्दुओं के विरुद्ध था तथापि प्रकारान्तर से शांति और व्यवस्था का प्रश्न आ ही जाता था और इस तरह सरकार बीच में आ ही गयी। काँग्रेस ने अनुभव किया कि मोपला मुसलमानों का यह आंदोलन हिन्दू-मुसलमान के एकता की कड़ी को छिन्न-भिन्न करने वाला है। लेकिन सरकार ने मोपलों के प्रति जो अत्याचार किया इसे भी काँग्रेस ने पसन्द नहीं किया। अस्तु, काँग्रेस ने मोपलों की निन्दा तो की ही, साथ ही, सरकारी दमन-चक्र की भी उसने तीव्र भर्त्सना की।[67]

सितम्बर सन् 1922 के बाद तो देश अखिल भारतीय 'ट्रेड यूनियन काँग्रेस' नामक मजदूरों की एक संस्था भी खड़ी हो गयी। 26 नवम्बर सन् 1927 को तत्कालीन भारत मंत्री लार्ड बरकेनहेड ने साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा

की और साथ ही यह चुनौती भी दी कि भारतीय यदि स्वराज्य प्राप्ति के लिए अपने को योग्य समझते हैं तो उन्हें एक ऐसा संविधान प्रस्तुत करना होगा जो सारे देश को स्वीकार हो, लेकिन सारे देश ने साइमन कमीशन का बहिष्कार किया। सन् 1928 के फरवरी महीने में जब कमीशन भारत पहुँचा तो सभी जगह उसे काले झण्डे देखने पड़े और 'साइमन गो बैक' का नारा निकाला गया। उस दिन हड़ताल का भी आयोजन किया गया। जगह-जगह पुलिस के साथ प्रदर्शनकारियों की मुठभेड़े हुई और पुलिस ने अपनी बर्बरता का नग्न रूप दिखाया। लाला लाजपत राय, पं. गोविन्द वल्लभ पंत और पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे नेता भी पुलिस की बर्बरता के शिकार हुए। श्री सुभाषचन्द्र बोस ने यह भी बताया कि लाला जो पुलिस की बर्बरता के परिणामस्वरूप ही शहीद हुए।[68]

देश को हमारे भारत मंत्री बरकेनहेड की चुनौती का भी उत्तर तो देना ही था। इसलिए सर्वदल सम्मेलन का आयोजन सन् 1928 के फरवरी, मार्च के महीने में किया गया। इस सम्मेलन ने पं. मोतीलाल नेहरू, श्री कुरैशी, श्री जी. आर. प्रधान और श्री सुभाषचंद्र बोस की उपसमिति गठित की और उसे कहा कि वह भारत के लिए एक ऐसा संविधान प्रस्तुत करे जो सारे देश की आशा-आकांक्षा को तृप्त करे और सबको स्वीकार भी हो।[69] दिसम्बर सन् 1928 में जब सर्वदल सम्मेलन की बैठक कलकत्ता में हुई, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और सिख लीग अपना विरोध दिखाने के लिए मैदान में आकर डट गयी। नेहरू कमेटी ने अल्पसंख्यकों को ध्यान में रखते हुए पूरा प्रबंध किया था। लेकिन उससे उन्हें कैसे संतोष हो सकता था जो हमारे राष्ट्र के विकास के रास्ते में रुकावट डालने के लिए खड़े हुए थे। देश के प्रगतिशील नौजवानों नेहरू कमेटी के अभिस्ताओं से सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि उन्हें पूर्ण स्वराज्य के स्थान पर तात्कालिक व्यवस्था के रूप में औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की थी। काँग्रेस का यह वर्ग पं. जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में नेहरू कमेटी के प्रस्तावों का मुकाबला करने के लिए डटे हुए थे। लेकिन इसने जब यह देखा कि ऐसा करने से अँग्रेजों का यह दावा सिद्ध होता है कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं और वे संविधान एकमत होकर बना नहीं सकते तो इसने विरोध प्रदर्शन मात्र से संतोष किया और सर्वदल सम्मेलन के निर्णयों को भारत मंत्री की चुनौती के उत्तर रूप में अँग्रेजों के समक्ष प्रस्तुत होने दिया।[70]

सन् 1928 के सर्वदल सम्मेलन के अगले वर्ष भारतीय राजनीति के रंगमंच पर मिस्टर एम. ए. जिन्ना का पदार्पण एक नये ही अंदाज में हुआ। इससे पहले वे भी एक काँग्रेसी जन थे और अली बंधुओं के साथ मुस्लिम लीग के मंच पर आकर इन लोगों ने उस संस्था की सभी स्थिति से प्रभावित भी किया था। तभी तो मुस्लिम लीग ने संयुक्त निर्वाचन की बात मान ली थी। लेकिन ऐसा लगता है कि मिस्टर जिन्ना को अपनी नेतागिरी की पड़ी हुई थी और उन्हें यह गँवारा नहीं हो रहा था कि मोतीलाल नेहरू कमेटी के जिसने भारत के लिए संविधान तैयार किया था एक सदस्य वे नहीं हो।[7] मिस्टर जिन्ना अब अपने विरोध का 14 सूत्री कार्यक्रम को लेकर उपस्थित हुए।

उन लोगों की प्रमुख माँगें थी कि भारत की केन्द्रीय धारा सभा में लगभग एक तिहाई हिस्सा मुसलमानों के लिए आरक्षित किया जायँ। बंगाल और पंजाब की प्रान्तीय धारा सभाओं में भी मुसलमानों की संख्या के अनुपात से उनकी सदस्यता कायम और सुरक्षित हो। मुस्लिम लीग की इस माँग की उत्तर में सिखों ने भी संभव न होने वाली माँगें प्रस्तुत कीं। हिन्दू महासभा हिन्दुओं के कल्याण के लिए उनके हिफाजत का दावा लेकर सामने आयी और उन्होंने बहुसंख्यक हिन्दू जाति की तरफ से मुस्लिम लीग और सिख लीग की माँगों को अपनाने से इनकार कर दिया। इस प्रकार सर्वदल सम्मेलन का देश की प्रमुख जातियों का विद्रोह झेलना पड़ा और अँग्रेजों ने अपनी चाल चलने में कामयाबी हासिल की।

सन् 1929 के राजनैतिक इतिहास का विवरण उस वर्ष होने वाली इस आतंकवादी घटनाओं की चर्चा के कारण तो बिल्कुल ही अधूरा रह जाएगा। यह हम बता चुके हैं कि भारत में आतंकवादियों ने हिंसात्मक आंदोलन के द्वारा मुक्त होने का हर संभव उद्योग करने का प्रयास किया था। अनुशीलन समितियों का गठन ऐसे आंदोलन की महत्त्वपूर्ण विकास की सूचना है। लेकिन सन् 1924 के अक्टूबर महीने में तो उससे भी बड़ी बात यह हुई कि लखनऊ में आतंकवादियों का अखिल भारतीय स्तर पर एक जोरदार सम्मेलन हुआ और 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' नामक संस्था का नया स्वरूप दिया गया, इस संस्था का उद्देश्य केवल इतना था कि भारत में संयुक्त राज्यों के जनतांत्रिक संघ राज्य की स्थापना करना और तदर्थ सशस्त्र-मुक्ति-आंदोलन चलाना। इस संस्था के पनपने के ठीक दस माह बाद ही 9 अगस्त 1925 को रामप्रसाद बिस्मिल के हाथों ही वह लोमहर्षक घटना घटी थी जिसे अँग्रेजों ने काकोरी षडयंत्र का नाम दिया। इस क्रम

में 31 वामपंथियों को, जिसमें एक अँग्रेज भी शामिल था और उन्हें दण्ड भी दिया गया। काकोरी केश के साथ ही संबद्ध चंद्रशेखर आजाद ने, जिन्होंने अपने आपको पुलिस हाथों से बचा पाने में सफलता पाई, ऐसे में आतंकवादियों का नेतृत्व ग्रहण किया और 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' का 'हिन्दुस्तान सोसलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' के रूप में पुनः गठन किया। आजाद के अलावा जो दूसरे आतंकवादी भारत-प्रसिद्ध हुए उनमें भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त के नाम भी सम्माननीय हैं।

रूसी क्रांति का प्रभाव भारत के श्रमिकों पर पड़ना आरम्भ हो गया था और उनकी एक अखिल भारतीय संस्था भी खड़ी हो गयी थी। किसानों और मजदूरों के हिफ़ाजत के लिए क्षेत्रीय संस्थाएँ भी तैयार की जा रही थीं। ऐसी ही संस्थाओं में उत्तर-प्रदेश की वर्कर्स एण्ड पीजेन्ट पार्टी का नाम विशेष तौर पर काफी महत्त्वपूर्ण भी है। इस तरह से किसानों और मजदूरों के बीच जागरण और वह भी रूसी क्रांति के ढंग का जागरण पूरी ताकत के साथ फैलाने का काम शुरू हो गया था। आतंकवादियों के सहयोग से इन आंदोलनों को पूरी तरह से प्रोत्साहन मिला। यह इसलिए कर रहे थे ताकि देश में एक समाजवादी व्यवस्था स्थिर करना चाहते थे।

8 अप्रैल सन् 1929 को भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय धारा सभा में उस समय बम फेंका जिस समय वहाँ पर 'सार्वजनिक सुरक्षा बिल' पर बहस हो रही थी। यह सार्वजनिक सुरक्षा बिल जनता के सभी लोगों के अधिकारों को सीमित तो करता ही था साथ ही साथ इसने यह भी दिखा दिया कि स्वयं अँग्रेजों द्वारा बनाई हुई विधान-सभाएँ शासकों के आगे कितनी नकारी थी। सदन के अध्यक्ष ने जिस बिल को पारित करने के प्रस्ताव को सदन की कार्य-प्रणाली और शिष्टाचार के खिलाफ घोषित करके, उसे पेश होने नहीं दिया था उसे ही वायसराय ने आर्डिनेन्स निकालकर नया कानून बना दिया। यह बात तो तय है कि इससे अवश्य ही वायसराय के इस कार्य से उन लोगों का संदेह दूर हुआ होगा जो विधान सभाओं में स्वराज्य की छाया ढूँढ़ रहे थे।

13 सितम्बर 1929 को एक और दर्दनाक घटना घटी। लाहौर षड्यंत्र केश (1929) के अभियुक्तों ने जेल अधिकारियों के व्यवहार के खिलाफ जोरों की भूख हड़ताल हुई थी। यतीनदास जी द्वारा इस दुखद घटना का उपसंहार हुआ।

सन् 1929 के ब्रिटिश चुनाव ने अनुदार दल को हराकर मजदूर दल सत्तारूढ़ हुआ। उस समय रामजे मैकडोनल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हुए। इनके सामने यह सुझाव रखा कि भारत के शासन-सुधार के काम को आगे बढ़ाने के लिए ब्रिटिश भारत तथा भारतीय नरेशों के प्रतिनिधियों का एक बैठक बुलाया जाए।

31 अक्टूबर सन् 1929 को साइमन का यह सुझाव स्वीकृत हुआ और यह निश्चित किया गया कि एक गोलमेज सभा का संचालन किया जायँ। पं. मदन मोहन मालवीय, सर तेज बहादुर सप्रू और डॉ. एनी बेसेन्ट जैसे नेताओं ने मजदूर सरकार की उदारनीति में विश्वास रखकर लाभ उठाने का निश्चय किया गया। किन्तु गाँधी जी की माँग थी कि अँग्रेजों को भारत को आश्वस्त करना चाहिए कि उनका आन्तरिक परिवर्तन हो चुका है कहने का तात्पर्य यह है कि वे अपनी उपनिवेशवादी प्रवृत्ति को छोड़ चुके हैं और भारत को सर्व-प्रभुता-संपन्न एक स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में स्वीकार रखने का हौसला रखते हैं। लार्ड इरविन, गाँधी जी को इस तरह का किसी भी प्रकार का आश्वासन देकर संतुष्ट न कर सके। उधर कैप्टेन वेन जैसे अँग्रेज एक ओर भारतीयों से कहते कि अँग्रेजों ने अपनी नीयत बदल ली है और दूसरी तरफ पार्लियामेन्ट को आश्वस्त करने का किसी भी प्रकार के नीति का प्रवर्तन होने नहीं जा रहा है।

काँग्रेस को यह आभास हो गया था कि पुरानी कथा ही अब वापस होने वाली है। आवाजें तो बहुत उठीं लेकिन सच्चाई तो यह है कि अँग्रेजों का हृदय परिवर्तन कभी हुआ ही नहीं था और वे देना कुछ भी नहीं चाहते थे बस वे लेने के मकसद से ही वे हमेशा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में गाँधी जी के आगे सत्याग्रह आन्दोलन को छोड़कर कोई दूसरा माध्यम शेष नहीं बचा था।

जिस नेहरू कमेटी के विषय में हम चर्चा कर चुके हैं वह पूर्ण स्वराज्य की माँग को मुल्तवी कर औपनिवेशिक स्वराज्य को तात्कालिक व्यवस्था को स्वीकृत करने के लिए तैयार थी। मैंने इस बात की भी चर्चा की है कि देश के नवजवान नेहरू कमेटी की इस सिफारिश को स्वीकार नहीं करते थे। इससे बड़े-बूढ़े के साथ नवयुवकों के मत-मतान्तर में बदलाव आ गये। गाँधी जी ने कलकत्ता काँग्रेस के अवसर पर बीच से ही यह रास्ता निकाला कि यदि अँग्रेज एक साल के अन्दर भारतीयों की सत्ता को हस्तान्तरित करते तो काँग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य को ही अपना लेंगे, अन्यथा वह पूर्ण स्वराज्य की अपनी माँग को पूरा करने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहेगें। काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष थे - पं. जवाहरलाल नेहरू

सन् 1929 के ब्रिटिश चुनाव ने अनुदार दल को हराकर मजदूर दल सत्तारुढ़ हुआ। उस समय रामजे मैकडोनल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हुए। इनके सामने यह सुझाव रखा कि भारत के शासन-सुधार के काम को आगे बढ़ाने के लिए ब्रिटिश भारत तथा भारतीय नरेशों के प्रतिनिधियों की एक बैठक बुलायी जाए।

31 अक्टूबर सन् 1929 को साइमन का यह सुझाव स्वीकृत हुआ और यह निश्चित किया गया कि एक गोलमेज सभा का संचालन किया जायँ। पं. मदन मोहन मालवीय, सर तेज बहादुर सप्रू और डॉ. एनी बेसेन्ट जैसे नेताओं ने मजदूर सरकार की उदारनीति में विश्वास रखकर लाभ उठाने का निश्चय किया गया। किन्तु गाँधी जी की माँग थी कि अँग्रेजों को भारत को आश्वस्त करना चाहिए कि उनका आन्तरिक परिवर्तन हो चुका है कहने का तात्पर्य यह है कि वे अपनी उपनिवेशवादी प्रवृत्ति को छोड़ चुके हैं और भारत को सर्व-प्रभुता-संपन्न एक स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में स्वीकार रखने का हौसला रखते हैं। लार्ड इरविन, गाँधी जी को इस तरह का किसी भी प्रकार का आश्वासन देकर संतुष्ट न कर सके। उधर कैप्टेन वेन जैसे अँग्रेज एक ओर भारतीयों से कहते कि अँग्रेजों ने अपनी नीयत बदल ली है और दूसरी तरफ पार्लियामेन्ट को आश्वस्त करने का किसी भी प्रकार के नीति का प्रवर्तन होने नहीं जा रहा है।

काँग्रेस को यह आभास हो गया था कि पुरानी कथा ही अब वापस होने वाली है। आवाजें तो बहुत उठीं लेकिन सच्चाई तो यह है कि अँग्रेजों का हृदय परिवर्तन कभी हुआ ही नहीं था और वे देना कुछ भी नहीं चाहते थे बस वे लेने के मकसद से ही वे हमेशा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में गाँधी जी के आगे सत्याग्रह आन्दोलन को छोड़कर कोई दूसरा माध्यम शेष नहीं बचा था।

जिस नेहरू कमेटी के विषय में हम चर्चा कर चुके हैं वह पूर्ण स्वराज्य की माँग को मुल्तवी कर औपनिवेशिक स्वराज्य को तात्कालिक व्यवस्था को स्वीकृत करने के लिए तैयार थी। मैंने इस बात की भी चर्चा की है कि देश के नवजवान नेहरू कमेटी की इस सिफारिश को स्वीकार नहीं करते थे। इससे बड़े-बूढ़े के साथ नवयुवकों के मत-मतान्तर में बदलाव आ गये। गाँधी जी ने कलकत्ता काँग्रेस के अवसर पर बीच से ही यह रास्ता निकाला कि यदि अँग्रेज एक साल के अन्दर भारतीयों की सत्ता को हस्तान्तरित करते तो काँग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य को ही अपना लेंगे, अन्यथा वह पूर्ण स्वराज्य की अपनी माँग को पूरा करने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहेगें। काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष थे - पं. जवाहरलाल नेहरू

जिन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र 'युवक-हृदय-सम्राट' के नाम से जानता था। इस समय तक एक वर्ष की काल सीमा समाप्त हो गयी थी। अस्तु, काँग्रेस के इस अधिवेशन ने पूर्ण स्वराज्य की माँग की गई। इसी समय हमारे राष्ट्रीय ध्वज तिरंगे को स्वीकार किया गया। काँग्रेस ने यह भी महसूस किया कि अँग्रेजों से हमें किसी भी प्रकार की मदद की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। गोलमेज सम्मेलन आयोजन का सारा ध्यान राष्ट्र की मुक्ति आन्दोलन से हटा लेने के उद्देश्य से प्रेरित है। इस प्रकार से समझौते के मायाजाल से निकलकर संघर्षों की तरफ बढ़ना ही राष्ट्रहित की दृष्टि से बहुत शुभ होगा। तत्पश्चात काँग्रेस ने गाँधी जी को सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन चलाने का अधिकार दे दिया।

अधिवेशन के बाद काँग्रेस ने कौंसिलों के बहिष्कार का दृढ़-निश्चय किया। 26 जनवरी सन् 1930 को सारे देश में काँग्रेस का पूर्ण स्वराज्य विषयक घोषणा-पत्र भी पढ़ा गया। इस घोषणा-पत्र यह कहा गया है कि अन्य राष्ट्रों की भाँति भारतीय भी स्वतंत्र होकर रहना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं और जो सरकार जनता के इस अधिकार को छीन लेती है तथा प्रजा को सताती है, उस सरकार को बदल देने अथवा मिटा देने का अधिकार जनता को प्राप्त है। अँग्रेजों ने देश में जो शासन कायम कर रखा है उसका आधार शोषण हैं और उसने देश का आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से नाश किया है। ऐसी सरकार को कायम रखने का कोई भी नैतिक और वैधानिक अधिकार नहीं हो सकता । अस्तु, देश शपथपूर्वक यह निश्चय करता है कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के हेतु काँग्रेस की आज्ञा का समय-समय पर पालन करेगा।[72]

गाँधीजी ने लार्ड इरविन के सामने अपनी सुप्रसिद्ध ग्यारह शर्तें रखीं।[73] गाँधी जी ने उस समय के अपने एक वक्तव्य में यह कहा था कि ऐसा लगता है कि भारत को अँग्रेजों से औपनिवेशिक स्वराज्य पाने के लिए उस समय तक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक भारत का प्रत्येक करोड़पति सात पैसे रोज मजूरी पाने वाला भिखारी न बन जायँ।[74] इससे पता चलता है कि गाँधी जी का भी अँग्रेजों की नेक नीयती पर विश्वास नहीं हो रहा था।

अंत में 2 मार्च सन् 1930 को गाँधी जी ने वायसराय के नाम एक लम्बा पत्र लिखकर आंदोलन के विषय में उनको पहले से सूचना दी। उसके तुरंत बाद ही 12 मार्च सन् 1930 को ही दांडी-यात्रा का आरंभ कर उन्होंने आंदोलन छेड़ दिया। देश में 'नमक सत्याग्रह' से प्रसिद्ध होने वाला यह अँग्रेजी राज्य की नींव हिलाकर

रख देने के लिए सार्थक सिद्ध हुआ। गाँधी जी ने उस समय सरकार से 'साल्ट ऐक्ट' का बहाना लेकर इस आंदोलन को इसलिए छेड़ दिया कि जिससे यह आंदोलन देशव्यापी जनांदोलन बनकर उभर सके। इसके साथ-ही-साथ गाँधी जी ने यह भी दिखाया कि किस प्रकार से अँग्रेज भारतीयों का शोषण कर रहे थे। इस आंदोलन में लगभग 60,000 भारतीय राष्ट्रवादी जनसेवक अँग्रेजों के कैदखानों को भरने के लिए तत्काल पहुँच गये थे। आश्चर्य की बात तो यह रही कि इनमें महिलाओं की संख्या सबसे अधिक थी। इस आंदोलन की लहर पश्चिम प्रान्त के पठानों तक ही पहुँची। सीमान्त गाँधी खान, बादशाह खान ने बात ही बात में गोली चला देने वाले पठानों के बीच पूर्ण अहिंसक आंदोलन के लिए प्रतिश्रुत खुदाई-खिदमतगारों का अपना यह लाल कुर्ती दल खड़ा कर असम्भव काम को भी संभव कर दिखाया। अँग्रेजी सरकार उस क्षेत्र में किसी भी तरह की विरुद्ध चेतना को फैलाने की छूट नहीं दे सकती थी।

कांग्रेस को अवैध संस्था घोषित किया गया और उसके कार्यालयों पर सरकार ने कब्जा किया। दमन का यह जोर जुलाई महीने तक अबाध रूप से चलता रहा, अगस्त के महीने में नरमपंथी सर तेज और श्री जयकर ने शांति प्रयत्न आरम्भ किया लेकिन मतभेद की खाँई इतनी चौड़ी थी कि उसके घावों को भर पाना उनके वश में नहीं रह गया। इधर साइमन कमीशन का प्रतिवेदन प्रकाशित हो चुका था जो राष्ट्र के अनुमान के अनुसार ही घोर असंतोषजनक था।

प्रथम गोलमेज कांफ्रेंस में कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन के निर्णय के अनुसार भाग नहीं लिया किंतु भिन्न-भिन्न स्वार्थों के स्वयंभू नेता उक्त सम्मेलन में उपस्थित हुए और ऐसा लगता है कि वह सोचकर ही बैठे थे कि भारत की आजादी के प्रश्न को वे खटाई में डाल दें। तभी तो मुस्लिम लीग, सिक्ख लीग और दलित वर्ग के नेताओं ने ऐसे-ऐसे सवाल उठाए कि किसी भी प्रकार का समझौता न हो सका। इस सम्मेलन में काम की एक ही बात हुई, वह यह कि ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को मिलाकर एक भारतीय संघ बनाने का निर्णय किया गया।

इस समय तक आकर मुहम्मद अली के विचारों में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। उन्हें लगा कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है और उसके निर्देश पर चलने वाले असहयोग आंदोलन के साथ सहयोग करने का अर्थ है मुसलमानों को हिन्दुओं के दया-दाक्षिण्य के भरोसे पर छोड़ देना।[75]

धार्मिक-परिस्थितियाँ

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय बहुसंख्यक हिन्दू जाति की जो दशा थी उसका स्मरण करते हुए यही कहा जा सकता है कि हजारों वर्षों की लम्बी यात्रा के बाद जैसे हिन्दू जाति थककर चूर हो गयी थी और उनके पास आगे बढ़ने का कोई और रास्ता नज़र नहीं आर हा था। हर तरफ से वे निराश हो गये थे। आशा की किरण कहीं से भी दिखाई नहीं दे रही थी। यह सत्य ही है कि भारत की ज्ञान-विज्ञान की परम्परा अत्यंत प्राचीन काल से ही विशाल रही है। लेकिन ऐसा लगता है कि मुसलमानी शासन के युग में, गुलामी ने हिन्दू जाति का सारा जीवन रस सोख लिया था। सोलहवीं शताब्दी में अपने पुराने धर्मग्रंथों की नयी व्याख्याएँ करके हिन्दू जाति की जीवनी शक्ति को जगाने की एक चेष्टा तो की गई थी, लेकिन वल्लभाचार्य की परम्परा में उनकी कोटि के किसी दूसरे आचार्य का आर्विभूत न होना यह एक ऐसा तथ्य है जो हमें यह दिखाता है कि मुसलमानी शासन के गुलामी के युग में हिन्दू प्रतिभा को, हिन्दू-जीवनी शक्ति को जैसे लकवा मार गया था।

सोलहवीं शताब्दी में आचार्यों की उन्नति परम्परा मौलिक शास्त्र-रचना में सक्रिय नहीं हुई, यह भी यही बताता है कि भारतवर्ष के हिन्दू गुलामी के संस्कारों के कारण उस स्थिति में नहीं रह गए थे कि वे मौलिक शास्त्र की रचना कर पाते। तभी तो उनके युग को डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'टीका युग' का नाम दिया है।[76] पराधीनता की यह परम्परा अगले कई सौ वर्षों तक ज्यों की त्यों बनी रही।

भारतवर्ष विचित्रताओं का देश रहा है। इस देश में यदि एक ओर ब्रह्म के सूक्ष्मतम और एकत्व का प्रतिपादन किया गया तो दूसरी ओर उसी एक ब्रह्म को अनेकानेक रूप में कल्पित करने वाले सद्विप्र भी हुए। यह ब्रह्म इस देश के इतिहास के प्राचीनतम प्रमाण, वैदिक साहित्य से विदित है। समय-समय पर ब्रह्म की अद्वैत और द्वैत कल्पना के बीच संघर्ष होता रहा है और आचार्यों ने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर व्याख्या देकर भाष्य करके असंगति में संगति ढूढ़ने की चेष्टा की है। वैदिक ऋषियों से चलकर भक्ति आंदोलन के नेताओं के क्रम में वल्लभाचार्य तक यह सिलसिला चलता रहा है। इस देश में स्वातंत्र्य चिंतन की

एक सुनिश्चित परम्परा रही है। जो धर्म के संघ-बद्ध रूप का विरोध करती रही है। चार्वाकों से लेकर संतो तक की यह अक्षुण्ण परम्परा, भारतवर्ष की एक बड़ी विशेषता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाली वैचारिक क्रांति को हमें इसी स्वातंत्र्य चिंतन की परम्परा की एक जंजीर कहने का आग्रह हो रहा है। उन्नीसवीं सदी में हिन्दू धर्म की जो स्थिति थी उसका संक्षेप में सिंहावलोकन श्रम का अपव्यय नहीं होगा। अस्तु, नीचे हम उसके विषय में कुछ तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं।

तत्कालीन हिन्दू-समाज की धार्मिक स्थिति का निर्धारण करते हुए श्री आर. सी. मजूमदार ने बताया है कि उस युग की हिन्दू जनता के लिए धर्म का अर्थ था कर्मकाण्ड की दासता।[77] हिन्दू जाति कर्मकाण्ड की जटिल उलझनों में जकड़ गयी थी और तो और ब्रह्म के संधान में भी उसकी कोई रुचि नहीं रह गयी थी। समाज में पुरोहितो की एक जाति रह गयी थी और धर्म का सारा जिम्मा उस पर डालकर शेष हिन्दू जनता मानों निश्चिंत हो गयी थी। पुरोहितों की भी जजमानिता होती थी और अपनी जजमानिका में पूजा-पाठ कराने का एकांत अधिकार उन्हें प्राप्त था। यह पुरोहित वैदिक संस्कृति के पुरोहित की परम्परा का नही था, वह अग्रिम नहीं था। ज्यादा से ज्यादा वह धर्म कृत्यकार्य का एजेन्ट था। उसकी दशा भी प्रायः वही थी जो कबीर के युग के उदरम्भर पाण्डे की थी। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण के दायित्व का निर्वाह करने के लिए सर्वथा अयोग्य ही था और इसी प्रकार से ज्ञान की उपलब्धि का काम करा सकने के लिए वह सर्वथा असक्षम था। जब धर्म की ऊँची बाते दृष्टि से ओझल हो जाती है तब मंत्र, जादू-टोने, भूत-प्रेत, ओझा-गुनी विचार केंद्र में अनायास ही बैठ जाते हैं। उत्तर भारतवर्ष में चिरकाल तक तांत्रिक-साधना प्रचलित रही है और उसने जनता को अपनी तरफ आकृट भी किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में ज्ञान शून्य हिन्दू-जनता ऐसे ही कुसंस्कारों का बोझ ढ़ो रही थी।[78]

बात यह है कि इतने दिनों की गुलामी ने हिन्दू जाति को विचारों के क्षेत्र में भी पंगु बना दिया था। शिक्षा के नाम पर, जो उसे कुछ प्राप्त हो रहा था, वह शताब्दियों पुराना था। मानव जाति ने ज्ञान-विज्ञान की दिशा में इधर जो नयी लकीरे खीची थीं उनसे हिन्दू जनता का कोई परिचय नहीं था। हिन्दुओं को अंग्रेजों के आने के पहले मूर्खो का प्रचण्ड शासन मिला था।[79] ऐसी स्थिति में उसकी जो

हीनावस्था थी वह परम स्वाभाविक थी। अंग्रेजों के आने और उस पर शासन स्थापित हो जाने के बाद भारतीयों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। परम उन्नत अंग्रेज के सान्निध्य में आकर हिन्दू जाति ने यदि अपनी दयनीयता से ऊपर उठने का प्रयास किया तो यह प्रकृत ही था।

पश्चिम के समृद्ध ज्ञान-विज्ञान का लाभ उठाने के उद्देश्य से जिन लोगों ने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण की उहके मन में अपनी धर्म-परम्परा और धर्म-संस्था के प्रति तीव्र आक्रोश का भाव उत्पन्न हुआ। किसी भी विचारवान व्यक्ति को, इस बात की शिकायत नहीं हो सकती कि नवीन ज्ञान का आलोक जीवन पर पड़ने देना चाहिए और अपनी दृष्टि का आयाम विस्तृत करना चाहिए। यदि अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों ने पश्चिम ज्ञान का अर्जन, प्रेरणा के लिए किया होता तो शायद मैदान उनका ही होता। लेकिन अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग धीरे-धीरे पश्चिमी सभ्यता के क्रीत-दास हो गये और उन्हें अपनी हर चीज दूषित दिखायी देने लगी।

अंग्रेजों ने हिन्दू कॉलेज करके जिस कॉलेज की स्थापना पाश्चात्य विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए थी; उसमें शिक्षा लाभ करने वाले व्यक्तियों का मनोभाव क्या हो गया था, इसका बड़ा अच्छा परिचय, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी की पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' से प्राप्त होता है। उसमें कहा गया है कि हिन्दू कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों ने खुल्लम-खुल्ला प्राचीनता के संस्कारों की खिल्ली उड़ाई। वे खुलकर अखाद्य खाते और अपने अखाद्य भोजन के अवशेष को अपने संतानपंथी, पुराचीनता के प्रेमी किसी पड़ोसी के घर फेक देते।[80] ये लोग अंग्रेज की नकल में शराब पीने लगे। अंतर्राष्ट्रीयता की ऐसी लहर का परिणाम किसी भी जाति के लिए शुभ नही माना जा सकता। आधुनिक युग में भारतवर्ष में जो वैचारिक क्रान्ति हुई उसके अग्रदूत राजा राममोहन राय माने जाते हैं। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, यथा राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और शैक्षणिक क्रान्ति के मंत्र का प्रथमोच्चार किया।

राजा राममोहन राय के प्रयत्न की मुख्य दिशा तो वस्तुतः है राजनीतिक और समाज किन्तु उनके जैसा सुधारक धर्म के क्षेत्र में भी मौखिक संदेश दे ही जाता है। राजा राममोहन राय ने अपने को किसी नये धर्म का प्रवर्तक अथवा किसी धार्मिक परम्परा का जनक कभी नहीं माना एक संस्कृत हिन्दू के ढ़ग से

उन्होंने जीवन-यापन किया।[81] अस्तु, दर्शन को किसी मौलिक की उद्‌भावना की आशा हम इनसे नही' कर सकते। धर्म के क्षेत्र में इन्होंने क्या कुछ चाहा उसका पता उनकी रचना 'तुह्‌-फत्‌-उल मुबदिहदीन' से चलता है जिसमें उन्होंने भारत के भिन्न धर्मो में प्रचलित मूर्तिपूजा और अंधविश्वास का खण्डन किया है और यह बताने की चेष्टा की है कि संसार में एक ऐसा मानव-धर्म चलाना चाहिए जो ब्रह्म की एकता को आधारभूत तथ्य के रूप में स्वीकार करता हो।[82] राजा राममोहन राय को इन क्रांतिकारी विचारों के कारण अपने-परायों का कोपभाजन बनना पड़ा था।[83]

राजा साहब ने मूर्तिपूजा और अंधविश्वास के विरुद्‌ध जो आंदोलन चलाया था उसके समर्थन में उन्होंने समय-समय पर लेख-मालाएँ प्रकाशित की, पुस्तके लिखी, जिनमें से कुछ के नाम हैं- The Precepts of Jesus, The Guide to peace and happiness, Appeals to the Christian public.

राजा साहब के युग में कूपमंडूकता और धार्मिक कठमुल्लापन के कारण भारतीय समुद्र यात्रा कर देशांतर नहीं जाते थे। उन्होंने इस जड़ता का बड़ी हिम्मत के साथ विरोध किया और स्वयं विदेश की यात्रा की।[84] राजा साहब ने धर्म के क्षेत्र में बुद्‌धि प्रयत्न पर जोर दिया। व्यक्ति को पुरोहित पर निर्भर न रहकर बल्कि स्वावलम्बी बनना चाहिए और शास्त्रों का सम्यक्‌ अध्ययन कर ज्ञानोंपलब्धि करनी चाहिए - ऐसा इनका मत था। जिस बात को बुद्‌धि मान ले तर्क निरुत्तर हो जाय उसे ही ग्रहण करना चाहिए - ऐसा इनका विचार था।[85] राजा राममोहन राय की जिज्ञासा न तो हिन्दू धर्म से हो रही थी न इस्लाम, सूफीवाद अथवा ईसाई मत से। राजा साहब जैसे स्वातंत्रय चेत्ता को स्वभावतः उपनिषदों से बड़ी प्रेरणा मिलती, इसी से उन्होंने अपने धर्म में एक ओर तो प्रचलित भिन्न-भिन्न धर्मों का सार-संग्रह किया और दूसरी ओर स्वाधीन-चिंतन ग्रहण किया।[86] इन्हीं आदर्शों को लेकर चलने वाले लोगों के धार्मिक संगठन को 'ब्रह्म समाज' कहा जाता है। 1833 में राजा राममोहन राय की मृत्यु हो गयी। उसके बाद ब्रह्म समाज का नेतृत्व श्री देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन के हाथों में आया। केशवचंद्र सेन ने ब्रह्म-समाज की मान्यताओं में कुछ ऐसा परिवर्तन कर दिया कि वह राजा राममोहन राय की कल्पना से दूर जा पड़ा। अब ब्रह्म-समाज ईसाई धर्म के निकट आ गया।[87] केशवचंद्र सेन ने ईसा मसीह के प्रति अपार श्रद्‌धा-भक्ति दिखाई। उन्होंने अपने आदेश सिद्‌धांत का प्रतिपादन कर यह बताया कि ईश्वर विशिष्ट व्यक्तियों को

ज्ञान के क्षेत्र को निष्णांत करके धरती पर भेजता है और इसलिए यह आवश्यक है कि वैसे व्यक्ति के वचनों को ब्रह्मवाक्य माना जांयें।[88] यह हमें कभी नहीं भूलना चाहिए कि राजा राममोहन राय ने बुद्धि प्रयत्न पर बल दिया था और कहा था कि जिस बात को मस्तिष्क स्वीकार न कर सके, उसे स्वीकार भी नहीं करना चाहिए। उनसे अलग केशवचंद्र सेन ने अवतारवाद और गुरुडम की प्रथा ब्रह्म-समाज में चलायी। परिणामस्वरूप समाज टूट गया और 'साधारण समाज' के नाम से एक नयी संस्था खड़ी हुई।

ब्रह्म-समाज जैसा ही एक समाज 'प्रार्थना समाज' के नाम से सन् 1867 में बम्बई में स्थापित हुआ। इसके प्रमुख नेताओं में डॉ. आत्माराम पांडुरंग, डॉ. भण्डारकर और महादेव गोविन्द रानाडे थे।[89] इस समाज का उद्देश्य धार्मिक क्षेत्र की बुराइयों को दूर करना था। पाश्चात्य संस्कारों का जो दूषित प्रभाव अंग्रेजी पढ़े लोगों पर पड़ रहा था उसे दूर करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य था। प्रार्थना-समाज ने भी किसी नए दर्शन का प्रवर्तन नहीं किया था। रानाडे ने इस समाज के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए बताया कि ब्रह्म के एकत्व का अनुभव और हिन्दू-धर्म में घुसी हुई विकृतियों का पर्दाफाश करना प्रार्थना समाज का मुख्य लक्ष्य था। रानाडे ने प्रार्थना-समाज की मान्यताओं का विवरण अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रेलिजस एण्ड शोसल रिफॉर्म' में दिया है। एक तरह से अगर हम दृष्टि डाले तो राममोहन राय ने ब्रह्म समाज के द्वारा जो चेतना जनमानस में पहुचायी थी उसी को प्रार्थना-समाज द्वारा भी गतिमान किया गया। मिस एस. डी. कालेट ने बताया है कि प्रार्थना-समाज ने पुराने ब्राह्मणवाद से अपने को सर्वथा अलग नहीं किया। इसके सदस्य मूलतः हिन्दू थे, हिन्दू धर्म को मानते थे, लेकिन स्वातंत्र्य चेत्ता होने के कारण धार्मिक विकृतियों पर प्रहार करने के आकांक्षी थे।

समाजों का यह इतिहास, आगे चलकर हमें सन् 1875 में स्थापित होने वाले आर्य समाज की ओर ले जाता है। स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा संस्थापित आर्य समाज का इतिहास पूर्वोक्ति दो समाजों में भिन्न पड़ता है।[90] अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के से पाश्चात्य संस्कारों का प्रभाव शिक्षित-समाज जनों पर तो पड़ ही रहा था, शासको का धर्म होने के कारण ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार भी बहुत जोरों के साथ हो रहा था। राजा राममोहन राय और आत्माराम पांडुरंग अथवा रानाडे से भिन्न परिस्थितियों में स्वामी दयानंद सरस्वती को कार्य करना पड़ा।

इन्होंने अनुभव किया कि ईसाई मत के प्रचार ने बहुसंख्यक जन-समाज के हृदय में अपने धर्म हिन्दू धर्म के प्रति अनास्था, उपेक्षा और तिरस्कार का भाव उत्पन्न किया गया है। हिन्दू-समाज मुसलमानों की अमलदारी में इसी तरह से इस्लाम के द्वारा भी पीड़ित हुआ था। दयानंद सरस्वती ने इस्लाम और ईसाई मत के प्रभाव से हिन्दू धर्म को बचाने की अनथक प्रेरणा की। जिस उत्साह के साथ उन धर्मो के नेता और प्रचारक अपने धर्म की विशिष्टताओं का विवरण प्रस्तुत करते उसी उत्साह के साथ आर्य-समाज ने ईंट का जबाब पत्थर से दिया। उसने अपने धर्म को हिन्दू जाति को आकर्षित करने के लिए भी बनाया, उसकी विकृतियों पर निर्मम प्रहार भी किया। अपने धर्म और समाज की विकृतियों के प्रति आर्य समाज ने दूसरे धर्मो के चाकचिक्य के प्रति किसी भी प्रकार के आकर्षण का अनुभव नहीं किया। आर्य-समाज का यह कहना था कि विकृतियाँ केवल हिन्दू-धर्म में ही नही है बल्कि सभी प्रचलित धर्मों में हैं। यदि विकृतियों के कारण हिन्दू धर्म उपेक्षणीय है तो वैसे ही दूसरे धर्म भी इस्लाम और ईसाई या अन्य धर्म भी उपेक्षणीय ही है। सत्यार्थ प्रकाश में 13वें और 14वें समुल्लाम में क्रमशः इस्लाम और ईसाई धर्म की बुराइयों का उल्लेख किया गया है। आर्य-समाज के कहने का उद्देश्य यह था कि ईसाइयों और मुसलमानों को हिन्दू धर्म को हीन कहने का इसलिए अधिकार नही है क्योंकि स्वयं उनके धर्म में भी हीनता के वही लक्षण नजर आते है जिसे वे हिन्दू धर्म में देखकर वे मज़ाक उड़ाते है। अपने धर्म के प्रति फैले हीन भाव को इस तरह से दूर कर, आर्य समाज ने हिन्दुओं और आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव का भाव भरा।

अपने धर्म की सुरक्षा करने वाले आर्य-समाज ने शुद्धि-आंदोलन छेड़कर यह दिखा दिया कि हिन्दू धर्म की ग्राहिका अंत नही हो गया हैं। जब मुसलमान इस देश में आए तभी से यह हिन्दू धर्म की यह विलक्षणता रही है कि वह सदैव खोता ही रहा कुछ भी अर्जित नहीं कर पाया। तभी तो आज मुसलमानों की संख्या अधिक हो गयी है। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू धर्म का जब हिन्दू समाज में कर्मकाण्ड की बहुलता हुई और नैष्ठिक हिन्दू जीवनचर्या के लिए प्रायः 2000 वार्षिक कृत्यों का विधान किया गया तभी से हिन्दू धर्म का पतन जारी हो गया। यहय तो सर्वथा सत्य है कि जिस जाति का मस्तिष्क व्यर्थ की क्रिया-कलापों में उलझा रहेगा वह जाति जीवन संघर्ष में टिक नहीं सकती। इसी से तो हिन्दू समाज अपनी ग्राहिका शक्ति भी खो बैठा। एक हिन्दू का मुसलमान हो जाना अत्यंत

सहज था किन्तु एक मुसलमान का हिन्दू हो पाना अत्यंत कठिन, प्रायः असंभव। आर्य-समाज के आंदोलन ने इतिहास की दिशा बदल दी। वह प्रतिद्वंदी अन्य धर्मो से लोहा ले सकता था। शुद्धि आंदोलन का यह ज़ोर कभी-कभी आक्रामक के जोश जैसा भी हो जाया करता था।[91] फलतः आर्य-समाज की शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग संघर्ष में ही लगा रहा।

भारतवर्ष की नवागंतुक पश्चिम वालो के मुकाबले जिस हीन भाव का अनुभव हो रहा था उसे दूर करके अपने अतीत पर गर्व करने के अर्थ आर्यसमाज ने वेद की श्रेष्ठता और वरेण्यता का उद्घोष किया। आर्यसमाज के अनुसार वेद एक ऐसा रत्न भण्डार है जिसमें मनुष्य जाति का सभी ज्ञान निहित है। वेद वचन को आर्य समाज सबसे अधिक प्रमाणिक माना और कहा है कि उसके संशोधन का अधिकार किसी को भी नहीं दिया जा सकता। इसलिए, धर्म नेता की स्थिति वेद के ऊपर की स्थिति नहीं हो सकती। इस बात का वेद साक्षी है कि हिन्दू धर्म मूर्तिपूजा, तीर्थ व्रत को लेकर चलने वाला धर्म नही था। ये तो विकृतियाँ ही हैं जो हिन्दू धर्म पर थोप दी गयी है। आर्य समाज के इस कहने में सार है। सही मायने में तीर्थ की भावना आर्य की भावना नहीं थी। आर्यो ने वैदिक सभ्यता के युग में जिस धर्म की व्यवस्था कर रखी थी वह ऋत-प्रधान थी। एक निश्चित स्थान पर एक-एक निश्चित विधि से वेदिका का निर्माण कर आर्य यज्ञ-साधना करते थे। उन्हें तीर्थों का चक्कर लगाने की आवश्यकता नही थी। तीर्थ की यह भावना आर्येतर जातियों के संसर्ग से आर्यो को प्राप्त हुई। आर्य समाज ने इसी कारण तीर्थादि का विरोध भी किया। आर्य समाज हिन्दुओं के वर्णाश्रम धर्म की ब्राह्मण व्याख्या को स्वीकार नहीं करता। इससे ब्राह्मणों की उच्चता उसे मान्य नहीं हुई।[92]

समाजों के इतिहास में आर्य समाज का इतिहास अपेक्षाकृत इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसने हिन्दू जाति को दूसरी जातियों के मुकाबले में जिन्दा रहना सिखाया देश के पौरुष की जिस नवीन चेतना का परिचायक बनकर आर्यसमाज उपस्थित हुआ उससे विदेशी सत्ता को बड़ी बेचैनी हुई श्री देसाई ने अपनी पुस्तक Social Background of Indian Nationalism में सर वेलेन्टाइन शिरोल के प्रमाण पर यह बताया है कि अंग्रेजों को आर्य समाज एक भयंकर खतरे के रूप में दिखा था।[93]

आलोचको ने आर्य समाज को, संघर्षशील धार्मिक साम्प्रदायिक संस्था की संज्ञा दी है।[94] उन्होंने यह बताया कि जिस समय देश में भारतीय राष्ट्रीयता की बुनियाद पक्की की जा रही थी उस समय हिन्दुओं के वेदों की दुहाई देना और मुसलमान और ईसाइयों से छीनकर लड़ाई मोल लेना भारतवर्ष की एकता के अनुभव में बाधक था। आर्य समाज की ओर से इस आरोप का प्रतिवाद करते हुए यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश में राष्ट्रीयता की बुनियाद, बहुसंख्यक जनता को हीनता का अनुभव कराकर नहीं पक्की की जा सकती।

आर्य समाज ने धार्मिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को दिया है। उनके अनुसार भक्ति केवल ऊँचे जातियों (सवर्णो) को ही नहीं है। वेद पढ़ने का अधिकार सभी जातियों को है। यहाँ ध्यान रहे कि हिन्दू धर्म के पण्डे-पुरोहितो ने अवर्ण जातियों और स्त्रियों को वेद पाठ का अधिकार नहीं दिया था। वेदों ही प्रमाण इकट्ठा कर आर्य समाज ने सनातनी पण्डितों का मुँह बन्द किया।[95] आर्य समाज के इस रवैये से देश के हिन्दुओं के बीच प्रचलित ऊँच-नीच के भेदभाव को बड़ा ही तेज धक्का लगा। अब सभी हिन्दू जाति, आर्य समाज के कारण, उस समानता का अनुभव कर सकती थी जिसका संकेत हमें वैदिक सभ्यता से हमें प्राप्त है।[96] यही कारण है कि गाँधी जी ने महर्षि दयानंद की प्रशस्ति में यह कहा कि महर्षि दयानंद ने धर्म में जागृति पैदा की। आर्य समाज का, वैदिक वाड्मय का, संस्कृत और हिन्दी का प्रेम बढ़ाया और असपृश्यता रूपी कलंक को धोने का प्रयत्न किया। ऐसे सब कार्यों के लिए महर्षि का स्मरण चिरस्थायी रहेगा ओर इसमें कोई संदेह नही।[97]

आर्य समाज की एक महत्त्वपूर्ण देन है। कर्मकाण्ड बहुल पौरिहित्यपरम धर्म-व्यवस्था में साधक पुरोहितो के आगे परावलम्बी हो जाता है। आर्य समाज ने व्यक्ति की इस परवरता को दूरकर उसे धर्म के क्षेत्र में स्वावलम्बी बनाया, ठीक वैसे ही जैसे वेदों के युग में 'होता' स्वावलम्बी था। उसे धर्म कृत्य के लिए किसी पुरोहित की अपेक्षा मही थी। सच तो यह है कि अग्रिमों का पुरोहित वर्ग-वाद की कल्पना है।

शासकों के वर्ग में कुछ ऐसे भी देखे गए जिनको प्राच्य विद्या, प्राच्य संस्कृति ओर प्राच्य वाड्मय के प्रति एक प्रकार का उत्कट प्रेम हुआ। ऐसे लोगों ने

मुक्त कण्ठ से भारत की विशिष्टताओं का, उसके महत्त्व का जयघोष किया। शासको के उस वर्ग को यह देखकर बड़ी हैरानी हुई कि अंग्रेजी पढ़ा-लिखा समाज हक्सले, मिल और स्पेन्सर की विरुदावली तो गाता है लेकिन वह अपने अतीत को, जिसमें इतनी प्रेरणाएँ सोई हुई है, भूल ही बैठा है। उसने अपने रस्मों-रिवाज को छोड़कर अंग्रेजी रंग-ढ़ग ग्रहण कर लिया था और विदेशियों की नकल को ही अपने जीवन का चरितार्थता का प्रमाण मान बैठा था। वैसे ही लोगों के व्यामोह को तोड़ने के लिए थियोसोफिकल सोसायटी का जन्म हुआ। इस संस्था के नेताओं में मैडम ब्लावस्की, श्रीमती एनी वेसेंट और कर्नल आलकौट के नाम मुख्य रूप से लिए जाते हैं।[98] इस सोसायटी की स्थापना भारत में 1879 में बम्बई में हुआ था।

श्रीमती एनी बेसेंट के संरक्षण में इस संस्था को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला। श्रीमती वेसेंट हिन्दू-धर्म की प्रशंसिका थीं। उनका ख्याल था कि हिन्दू-धर्म विश्व के सभी धर्मो से अधिक आध्यात्मिक है।[99]

एक विदेशी विधर्मी महिला के मुँह से हिन्दू-धर्म के प्रति प्रशस्ति का यह उद्‌गार सुनकर हिन्दू जनता का आत्मविश्वास बढ़ा। आर्यसमाज को स्वपक्ष-प्रतिपादन में भी श्रीमती ऐनी बेसेंट के उद्‌गारों से बड़ी सहायता मिली। यह एक बड़ी बात थी कि जब ईसाई समाज विदेशों में भारत के हिन्दू धर्म को जीर्ण-शीर्ण धर्म सिद्‌ध करने में लगा हुआ था। तब भारत में विदेश से आकर इस सोसायटी के नेताओं ने हिन्दू धर्म का पक्ष ग्रहण किया और बताया कि उसमें ऐसी कोई विकृति नही है जिसके कारण हिन्दुओं को लज्जित होना पड़े। इस प्रकार इस संस्था ने हीन भाव को दूर करने में बड़ी सहायता पहुँचाई।[100]

आर्य समाज ने जिस अतिरिक्त उत्साह के साथ वेद को महत्त्व दिया उसके परिणामस्वरूप हिन्दुओं के राशि-राशि धर्म-ग्रंथ अवज्ञा और अवहेलना के विषय बने। स्वामी जी ने और तो और उपनिषदों की विचार स्वातंत्र्य परम्परा को भी यथेष्ट मान नहीं दिया। खण्डन-मण्डन की जिस प्रणाली को लेकर वे चले और जैसा अक्खड़ व्यक्तित्व उन्होंने पाया था उसका स्वाभाविक परिणाम हुआ कि उनके उपदेश हिन्दू जनमानस पर छा गए। इधर पढ़ा-लिखा हिन्दू समाज अपने शास्त्रों की अवहेलना को बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। उसे ऐसा लगता था कि उपनिषदों, गीता और वेद में ही अन्य पूज्य धर्म-ग्रंथों में कामकर बहुत सारी चीज़ें पड़ी हुई हैं।

लेकिन स्वामी जी का प्रभाव भी अपनी जगह पर विद्यमान था। आर्यसमाज से प्रभावित हिन्दू शिक्षित वर्ग की स्थिति शायद कुछ ऐसी ही थी जैसी 15वीं शती की हिन्दू जनता की थी, जिस पर कबीर के प्रचार का प्रभूत प्रभाव था, लेकिन उसका हिन्दू संस्कार यह माने को बिलकुल भी तैयार नहीं था कि देवी-देवता, शास्त्र-पुराण, सारे के सारे झूठे हैं। हिन्दुओं की इस किंकर्तव्यविमूढ़ता की अवस्था में थियोसोफिकल सोसाइटी ने उपस्थित होकर धर्म-ग्रंथों के प्रति उनकी निष्ठा को बल दिया। एक ओर तो इस समाज ने हिन्दुओं के, ईसाइयों के मुकाबले में हीनता के भाव का अंत करने में सहायता पहुँचाई और दूसरी ओर अपनी परम्परा के प्रति आस्था फिर से जगाई।

थियोसोफिकल सोसायटी का मूल उद्देशय विश्व बंधुत्व का भावना जगाना था। इसके साथ ही इस समाज ने मनुष्य में अंर्तनिहित ईश्वरीय शक्ति का अनुसंधान करना भी आरम्भ किया।[101] इस समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह भी थी कि उसने किसी स्वतंत्र जाति अथवा धर्म को जन्म नहीं दिया। थियोसोफिस्ट होने के लिए अपने धर्म का करने की भी कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिए इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी जगह पा सकते थे। आर्य समाज से उसके आलोचकों को एतद्विषयक जो शिकायत थी वह इस समाज पर धारित नहीं हो सकी। इस संस्था को इसलिए याद किया जाएया कि इसने हिन्दुओं के पुर्नजन्म-सिद्धांत का विदेशियों के मुँह से समर्थन कराया।

आज तक जिन धर्म संस्थाओं की चर्चा हुई है उनका उद्देश्य था, भारतीयों के बीच अपने धर्म के प्रति जो अनास्था का भाव भरता जा रहा था और जिसे ईसाई मिशनरियों का प्रचार और भी प्रोत्साहित कर रहा था, उसका परिहार करना और भारत के गौरव का स्मरण कराना। सभी समाजों ने अब तक यह नहीं बताया था कि धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर भारतवर्ष में दक्षिणी भक्ति का प्रचार जब हुआ तब भक्त आचार्यों का एक महती परम्परा हमें प्राप्त हुई थी। लेकिन वल्लभाचार्य और चैतन्य देव की यह परम्परा उनके बाद ठप्प पड़ गई थी। रामकृष्ण परमहंस के रूप में भारत की यही परम्परा आर्विभूत हुई। रामकृष्ण परमहंस की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने परमार्थिक सत्य स्वरूप भगवान को स्वयं संवेद्य बताया।[102] परमहंस के अनुसार तर्क

से ईश्वरीय सत्ता का अनुभव नहीं किया जा सकता। ब्रह्म भाव को प्राप्त होने के लिए शास्त्रों का पारायण अनिवार्य नहीं है। वरन् अपेक्षित है चरित्र निर्माण के लिए वैराग्य परम आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ है आसक्ति में विरति।

रामकृष्ण ने मनावता में ईश्वरत्व के दर्शन किए और इसी से उन्होंने मानव -सेवा मुक्ति का साधन माना। रामकृष्ण परमहंस ने संसार के सभी धर्मो को ईश्वरत्व की उपलब्धि कराने में समर्थ माना। अस्तु, उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता का पुनीत पाठ पढ़ाया।[103] वे कहा करते थे कि यत् मत तत् पंथ। संसार के भिन्न-भिन्न धर्म भिन्न-भिन्न ढंग से एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयासी है। स्वयं रामकृष्ण ने अपने व्यक्तित्व में इन सत्य को आधारित करके उतार लिया था।[104]

परमहंस की प्रशस्ति में दिनकर जी ने कहा है - भारतीय जनता की 500 पुरानी धर्म-साधना रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनंत ऋषियों और संतो की कथाएँ सुनी जाती है वे झूठी नहीं है।[105] रामकृष्ण परमहंस के निधन के बाद उनके समर्थ शिष्य स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन नामक संस्था की स्थापना की, श्री रामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करने की निमित्त की।[106]

सर्वधर्म समन्वय की जिस नीति पर रामकृष्ण चले, उसी को एक दूसरे ढंग से विवेकानंद ने चरितार्थ किया। उन्होंने अनुभव किया कि मानव समाज के कल्याण के लिए पश्चिम के भौतिकवाद और पूर्व के अध्यात्मवाद के बीच एक प्रकार का समन्वय संबंध स्थिर होना चाहिए। ये दोनो अलग-अलग इकाइयों के रूप में असंतुलित अवस्था में विकसित हो रहे हैं। पश्चिम भौतिकवादी होकर शोषक हो गया और पूर्व पण्डित और पुरोहितों के चक्कर में सभ्यता की दृष्टि से पिछड़ गया है। भारत के हिन्दुओं का धर्म उनके रसोईघरों तक सीमित था।[107] विवेकानंद ने रामकृष्ण के उपदेशों का सम्पूर्ण भारतवर्ष में घूम-घूमकर प्रचार तो किया यूरोप और अमेरिका में भी जाकर उन्होंने हिन्दू-धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी। इससे भारतवर्ष, हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म का महत्त्व पश्चिमियों की दृष्टि से दृढ़ हो सका। विवेकानंद ने अपने गुरू के सिद्धांतो को निरूपण करने के क्रम में जो भाषण

गिए उनका पुस्तक रूप My master, Gyan yoga, Karun Yoga, Bhakti yoga ---------- आदि के नाम से उपलब्ध है।[108]

रामकृष्ण मिशन में साधना करने वाले साधको ने सेवा व्रत ग्रहण किया। वे इस व्रत का प्रचार घूम-घूमकर किया करते और इसी सेवा यज्ञ को वे मुक्ति विधायक मानते।

संन्यासियों के इस समुदाय ने देश को यह सुझाया कि भारतवर्ष को सेवा-व्रती, शक्ति-संपन्न पुरुषार्थियों की अपेक्षा है न कि जीवन से विमुख होकर जंगलों में तपस्या करने वाले साधको की। भगवान की लीलाओं का विस्तार, उसकी शक्ति का प्रकाश जिस लोक समाज में होता है उससे भागकर मुक्ति का संधान नहीं किया जा सकता।

सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ

भारतीय संस्कृति में प्राचीनता होने के साथ ही साथ निरंतरता एवं चिरस्थायिता भी है जो विश्व की अन्य संस्कृतियों में दिखायी नहीं देती। भारत का अतीत उसके वर्तमान जीवन से अविछिन्न रूप से संबद्ध है। भारतीय संस्कृति धार्मिक विषयों में सहिष्णुता का उपदेश देती हैं। धर्मांधता एवं संकुचित मनोवृत्ति इसमें नहीं मिलती तथा यह मानव जीवन के सभी पक्षों के सम्यक विकास पर बल देती है तथा इसमें सार्वभौमिकता मिलती है।

भारत के इतिहास के अध्येताओं को यह देखकर हैरानी होती है कि जो देश संसार में सभ्यता के क्षेत्र में अग्रणी रहा वही जड़ता की इस दयनीय स्थिति को प्राप्त हो गया कि हिन्दू-राजाओं के मुसलमानी जोर के आगे घुटने टेकने के बाद अपनी इस जीवन शक्ति को खो बैठा जिसके बल पर कोई जाति-जीवन संघर्ष में टिकी रहती है। इतिहास का यह एक घोर सत्य है कि बारहवीं शती के बाद अगले छः सौ वर्षो तक भारतवर्ष के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में किसी प्रकार की नवीन चेतना नहीं आयी।[108] ऐसा लगता है कि इस देश की बहुसंख्यक हिन्दू-जनता का संस्कार पोषण तत्व के अभाव में ठिठुर गया था।

अपने सामने एक विरोधी, विधर्मी संस्कृति को उपस्थित देखकर भी, लगता है, हिन्दू-जन-समाज ने उसे नहीं देखा। इस्लाम आरम्भ में भारतवर्ष के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लिए समस्या बनकर उपस्थित नहीं हुआ था। यह तथ्य इस बात से प्रमाणित है कि पृथ्वीराज चौहान तथा जयचंद गढ़वाल को पराजित करने वाले मुसलमान शासक शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के सिक्कों पर अंकित रहती थी और जैसे देवनागरी में उन सिक्कों पर अक्षर खुदे होते थे वैसे ही गोरी के सिक्के पर अक्षर खोदे गये।

15वीं शताब्दी में इस्लाम एक नए रूप में, समस्या के रूप में खड़ा हुआ। कुस्तुन्तुनिया के 1453 के अभियान के बाद इस्लाम की तलवार निकल पड़ी। भारतवर्ष को अब एक नए ही इस्लाम से पाला पड़ा। विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति का स्वर लेकर आने वाला इस्लाम भारत को प्रभावित करने में तनिक भी सक्षम नहीं

हो सका। इसका कारण एक तो यह था कि भारत में प्रथम प्रवेश धन-संग्रह अथवा साम्राज्य विस्तार के लिए हुआ। बाद में उसकी मान्यताओं में ऐसा अंतर पड़ा कि किसी भी इस्लामेत्तर जाति के लिए इस्लाम के साथ संबंध समन्वय करना शक्य नहीं रह गया। इधर हिन्दू अपनी वह ग्राहिका शक्ति खो चुके थे जिसके बल पर उन्होंने मुसलानों पूर्व भारत में आने वालीं विदेशी विधर्मियों को अपने में पचा लिया था। इस्लाम भारतीय हिन्दू लोक-समाज को प्रभावित करने में असमर्थ रहा। वे कहते है : भारत के हिन्दुओं का अनेकानेक देवी-देवताओं की पूजा में विश्वास, मूर्तिपूजा, जटिल जाति व्यवस्था जिसके परिणाम स्वरूप स्पर्श, भोजन तथा विवाह संबंधी कठोर पाबंदियाँ, बाल-विवाह, विधवा-विवाह-वर्जन, निरामिष भोजन के प्रति अपेक्षाकृत अधिक आग्रह तथा गोमांस-भक्षण-विषयक कठोर निषेध- वे कारण हैं जिन्होंने हिन्दू-समाज को इस्लाम के प्रभाव से बचा कर रखा है।[109]

पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में विचार स्वातंत्र्य का एक प्रबल झंझावात उठा, जिसने हिन्दुओं के सोचने-विचारने की प्रक्रिया में एक नया मोड़ दिया जिसके परिणाम स्वरूप परम्परा की रुढ़ियों, अंधविश्वास प्रेत और धार्मिक कठमुल्लापन को एकबारगी ही झकझोर दिया। कहना नहीं होगा यह चेतना संतो की चेतना थी। लेकिन इतिहास की गवाही है कि अंत में पुराने संस्कार ही हावी रहे। भक्तों के उदय ने कबीर के प्रचार को जैसे भावशून्य कर दिया। सबसे विलक्षण बात तो यह हुई कि कबीर के उन्हीं विचारको की, जिनके सहारे धर्म के संघबद्ध रूप और हिन्दू समाज की विकृतियों पर प्रचार किया गया था, नई टीका दी गई और कबीर की मान्यताओं को आत्मसात कर लिया गया। इस प्रकार कबीर जैसे क्रांतिदूत का उदय भी हिन्दू समाज की विकृतियों को हटा नहीं पाया। अंग्रेजों के आने तक जन-जीवन को जीर्ण-शीर्ण कुरीतियों हिन्दू जाति की प्रगति में बाधक बनी रही, जिनकी परंपरा 13वीं शती से आरंभ हो चुकी थी।

सदियो की गुलामी और विदेशी शासन तथा प्रगतिशील मान्यताओं से संपर्क के अभाव ने हिन्दू समाज को पतन के गर्त में गिरा दिया था। जब भारतवर्ष का अंग्रेजो, फ्रांसीसियों जैसे पाश्चात्य सभ्यता के धनिकों के साथ परिचय बढ़ा तब हम यह पाते है कि उनके उन्नत विचारों का आलोक भारत पर भी पड़ेंगे। आगे हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि 19वीं शताब्दी में भारतवर्ष ने कैसे अपनी सामाजिक विकृतियों को दूर करने की चेष्टा की है।

19वीं शताब्दी में होने वाली वैचारिक क्रांति के नेताओं को जब समाज की अशिक्षा, समस्त हीनताओं का कारण दिखा। उन्हें यह सब देखकर बड़ा कष्ट होता था कि जिस देश ने सभ्यता के आदि चरण में ज्ञान-विज्ञान का प्रथम मंत्रोच्चार किया था वही बिल्कुल शांत होकर बैठ गया। भारतवर्ष के संबंध में बाहर की दुनिया में यह प्रवाद प्रचलित रहा है कि यह देश आध्यामिक साधना का देश रहा है। किंतु जो ऐसा कह रहे थे उन्होंने इस बात की ओर बिल्कुल भी अपना ध्यान नहीं दिया कि इसी देश ने गणित, ज्योंतिष, रसायन शास्त्र, भौतक शास्त्र, प्राणिशास्त्र और चिकित्सा विज्ञान जैसे जीवनोंपयोगी विज्ञान की परम्परा भी चलाई थी। 19वी शताब्दी के हिन्दुओं को यह देखकर इस बात का विश्वास कर पाना उनके लिए बेहद कठिन था कि यह वही देश है जिसने ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन के परंपरा की नींव डाली थी। आखिर इसका भी तो कोई न कोई कारण तो होना ही विवेच्य काल तक आकर नारी अपने सभी अधिकारों से वंचित हो गई और इससे उसकी इच्छा और अनिच्छा के विषय में जिज्ञासा का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया। पुरुषों को शायद इस बात का भरोसा नहीं रहा कि विधवाएँ पवित्र जीवन व्यतीत कर सकती है। क्योंकि पुरुष तो कभी पवित्र नहीं रह सकता तो स्त्री को कैसे पवित्र मानेगा। भारत में संयुक्त परिवार की संस्था के आगे विधवाएँ कई प्रकार की समस्या को लेकर खड़ी थीं। पहला प्रश्न तो उनके गुजर-बसर का था। पति की मृत्यु के बाद विधवाओं के सामने वह आधार नहीं रह जाता था जिसके बल पर उनके लिए रोटी का प्रबंध हो सके। इस प्रकार वे संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों के ऊपर अपने गुजारे के लिए निर्भर होकर बोझ बन जाती थी। इसलिए परिवार उससे यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र ही मुक्त होना चाहता था। पति-वियोग में जो नारी स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करे उसके लिए इस सामाजिक सुविधा के विद्ध कुछ कहने के लिए रह नहीं जाता। लेकिन दुखद बात तो यह थी कि लोग विधवाओ को जबरदस्ती अत्यंत क्रूरता के साथ उसके पति की लाश के साथ जला डालते।[110] राजा राममोहन राय नई वैचारिक क्रांति के नेताओं के अग्रणी थे और इसलिए स्वाभाविक था कि इस कुत्सित प्रथा की अंत के लिए जो भी प्रयास होता, उसकी परंपरा उनसे ही चलती। उन्होंने स्वयं अपने परिवार में इस अमानुषिक कृत्य को सम्पन्न होते हुए सन् 1811 में देखा था।[111]

भारत में ब्रिटिश-राज्य की स्थापना के बाद यदि शिक्षित समाज का ध्यान इस कुप्रथा की ओर गया तो वही शासन की प्रतिक्रिया भी इसी प्रथा के संबंध में दुःख और रोष के साथ हुई। किंतु कंपनी सरकार यह निश्चय कर चुकी थी कि वह भारत की प्रजा के धर्माचरण के विषय में पूर्ण तटस्थता की नीति अपनाएगी।[112] भारत सकार ने फरवरी 1820 को अपना एक प्रतिवेदन इंग्लैण्ड कंपनी के संचालको के पास, इस विषय में प्रेषित किया था, जिसका उत्तर प्रायः साढ़े तीन वर्षो के बाद 17 जून 1823 को इसे प्राप्त हुआ। कंपनी शासकों की एतद्विषक नीति का परिचय संचालको द्वारा स्वीकृत इस प्रस्ताव में मिल जाता है जिसमे उन्होंने यह कहा था कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार द्वारा भारतवर्ष में वह चेतना क्रमशः उत्पन्न होगी जो इस कुप्रथा को अमानुषिक समझेगी तब एक ऐसा जनमत तैयार हो जाएगा जिसके सहारे सरकार नियम बनाकर इस कुप्रथा का अंत करने मे सहायक होगी।[113] राजा राममोहन राय को अवश्य ही इस सरकारी रुख से निराशा हुई होगी। लेकिन उन्होंने हिम्मत नही हारी और घूम-घूमकर इस प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार किया। इस क्रम में उन्हें पुरातन पंथियों से संघर्ष करना पड़ा और शास्त्रों का प्रमाण लेकर अपने पक्ष का प्रतिपादन करना पड़ा। अंत में उनके अनथक प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप 4 दिसम्बर 1829 की रेग्युलेशन संख्या 17 के अनुसार सती-प्रथा को अवैध घोषित किया गया।[114] इस प्रकार नारी समाज पर पुरुषों के द्वारा वह जो अमानुषिक अत्याचार हो हा था उस पर कानूनी बंधन पड़ा।

कुलीन स्त्रियों की दूसरी समस्या यह थी कि वह चाहकर भी पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। यदि पुनर्विवाह की सुविधा हिन्दू विधवा को प्राप्त रहती तो वे अपने को, अपने परिवार के अनाचार और अत्याचार से, आवश्यकतानुसार बचा सकती थीं। किंतु हिन्दू समाज उस तरह की कोई सुविधा नारियों को देने का पक्षपाती नहीं था। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार और नए विचारों की प्रतिष्ठा ने इस प्रश्न पर भी गंभीरता के साथ सोचने की प्रेरणा दी। हिन्दू समाज की विचित्रता यह थी कि पुरुष चाहता तो सैकड़ों विवाह कर सकता था। बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों के घरों में बहु-विवाह करने का रोग जैसा था। एक-एक की पचास-पचास पत्नियाँ होती थीं। उन पचासों में कुछ ऐसी भी थीं जिनके जीवन में सौभाग्य-सूर्य कभी उदित नहीं हो पाता था।[115]

जो समाज पुरुषों को इस रूप में अबाध स्वछंदता दे वहीं किसी नारी को संरक्षण रूप में भी पुनर्विवाह की स्वीकृति न दे यह एक क्रूर विधान ही कहा जाएगा। अस्तु, ब्रह्म समाज ने इस संबंध में आंदोलन खड़ा किया। 1837 में कलकत्ता और बम्बई में इस संबंध में उद्योग के आरम्भ हुए। इस विषय में आंदोलन करने वालों में ईश्वरचंद्र विद्यासागर और शशिजय मुखर्जी जैसे लोगों के नाम स्मरण करने योग्य है। 26 जुलाई 1856 को ऐक्ट संख्या 15 जिसको हिन्दू वीडो रीमैरेज ऐक्ट कहा गया है - स्वीकृत हुआ। इनके अनुसार विधवा विवाह को वैध घोषित किया गया।[116] लेकिन ऐसी समस्याओं का समाधान कानून पास करने से नहीं हो जाता हैं। इसी से इस कानून से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। यह इसलिए कि उस कानून के पीछे जनमत का समर्थन नहीं था। अपेक्षित जनमत तैयार करने के लिए बाद में जाकर कुछ संस्थाएँ खड़ी की गयी। "वीडो रीमैरेज सोसिएशन" नामक संस्था बम्बई में 1866 में स्थापित हुई। 1896 में पूना 'वीडो होम' नामक संस्था का जन्म डी. के. कर्वे के हाथों हुआ।[117] हिन्दू स्त्रियों का पारिवारिक सम्पत्ति पर कोई कानूनी हक नहीं माना जाता था। इसका परिणाम यह देखा गया कि नारी अपने पेट की क्षुधातृप्ति के लिए पुरुषों पर अवलम्बित हो गई है। नारी की पराधीनता के कुछ विशिष्ट कारणों में यह भी एक कारण है। हिन्दू-समाज के पति और पत्नी के परस्पर सहयोग और अधिकार रक्षा को विवाह का नाम दिया गया। हिन्दू-समाज यह मान बैठा कि पुरुष और नारी पति-पत्नी बनकर परस्पर विश्वासपूर्वक अपने व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करेंगे। उसने तो कभी यह सोचा ही नहीं था कि कभी समाज में ऐसी भी स्थिति आएगी जब पति और पत्नी को किसी न्यायालय जाकर अपनी करुण कथा को कहना पड़ेगा और अपने संरक्षण का उपाय खोजना पड़ेगा।

विवाह की संस्था को एक धार्मिक रूपाकार देकर हमारे समाज-विधायक, जैसे इस विषय में निश्चिन्त थे। लेकिन दुर्भाग्यवश स्थिति उनकी आशा के प्रतिकूल विषम से विषमतर होती गई। यहीं से नारी जीवन की अनेकानेक समस्याएँ खड़ी होती गई हैं और अपना समाधान माँगती है।

विवेच्यकाल की वैचारिक क्रांति ने यह सुझाया है कि यदि देश को आगे बढ़ना है तो पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों में भी शिक्षा का प्रचार होना चाहिए। देश का पुरातनपंथी वर्ग स्त्री की शिक्षा को शास्त्र विरोधी स्वीकारता था और समाज में

ऐसा कुसंस्कार फैला हुआ था कि शिक्षिता नारी विधवा हो जाती है।[118] इस देश में नारियों के बीच शिक्षा प्रचार का उद्योग करने के लिए सबसे पहले ईसाई मिशनरी आई थी। सन् 1813 में एक कानून पास हुआ था जिसके अनुसार ईसाइयों को भारत में प्रचार कार्य करने की अनुमति मिल गई थी। अब उनके लिए प्रचार करना सहज हो गया था। लेकिन कुलीन परिवार की बालिकाओं को उनके अभिभावकों ने ईसाइयों द्वारा चलाए जाने वाले विद्यालयों में पढ़ने का अवसर नहीं दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि ईसाइयो ने गरीब और उपेक्षित छोटी जातियों के बीच स्त्री शिक्षा का प्रचार आरंभ किया। ईसाई मत और संस्कार के प्रचार की दृष्टि से यह उद्योग चाहे जितना भी सफल हो, व्यापक रूप से इसने देश को हानि ही पहुँचाई है। यह इस तरह की अंग्रेजी शिक्षा के प्रति कुलीन वर्ग में एक प्रकार की वितृष्णा का भाव पैदा हुआ है। ईसाइयो, जिन व्याधों, जिप्सियों, वैरागियों और वैश्या पुत्रियों को शिक्षित बनाने का उद्योग किया वे भारतीय नारी समाज के लिए आदर्श नही हो सकीं।[119] एक दूसरी बात भी थी कि कि ईसाई मिशनरी वाले अपना प्रलोभन जाल फैलाकर छोटी जातियों को फँसा रहे थे ताकि वे ईसाई हो जाए। नवीन वैचारिक आंदोलन ईसाई आंदोलन नहीं था। इसलिए नारी शिक्षा का उद्योग विफल रहे भी प्रमाणित है कि 1821 में जब मिस कूक भारत में, यहाँ के निवासियों के बीच शिक्षा प्रचार करने आई तो उन्हें कुलीन परिवार की कोई भी बालिका छात्रा के रूप में प्राप्त नहीं हो सकीं।[120]

सन् 1834 में जो एडम रिपोर्ट प्रकाशित हुई उससे विदित होता है कि नवीन शिक्षा मुख्यतः निम्न वर्ग की छात्राओं तक ही सीमित रहीं। मिस कूक के प्रयत्न से बालिका-विद्यालय की संख्या धीरे-धीरे 30 तक पहुँची, जिनमें शिक्षा लाभ करने वाली छात्राओं की अधिकतम संख्या 600 तक आ पहुची।[121] यह अनुभव किया गया कि विद्यालयों का प्रबंध एक कठिन कार्य है। इसमें विद्यालयों की संख्या वृद्धि से ध्यान हटाकर एक केन्द्रीय विद्यालय की स्थापना के हित प्रयास किया गया। 1836 में एक ऐसा विद्यालय लेडी एमहर्स्ट के संरक्षण में खोला भी गया किन्तु इस विद्यालय में भी छात्राओं की संख्या संतोषजनक नहीं पाई गई। आवश्यकता इस बात की थी कि स्त्री-शिक्षा के पक्ष में जनमत तैयार किया जाय और शास्त्र ग्रंथों के प्रमाण पर यह भी सुझाया जाय कि स्त्री-शिक्षा के लिए शास्त्र की पूर्ण स्वीकृति है। इस सिलसिले में जिन लोगों ने आंदोलन किया उनमें गौड़ मोहन विद्यालंकर

का नाम विशिष्ट है जिन्होंने स्त्री-शिक्षा-विधायक शीर्षक से पुस्तिका का प्रकाशन कराया।[122] स्त्री-शिक्षा के विरोधियों का कहना था - सरकारी सेवा के लिए ही शिक्षा की अपेक्षा है और सरकार की सेवा करने के लिए पुरुष ही पर्याप्त है। इसलिए नारियों की शिक्षा का कोई अर्थ नहीं है। यह प्रश्न बहुत लम्बे समय से हमारे देश के सामने है कि नारी-शिक्षा की रूप-रेखा पुरुष-शिक्षा से भिन्न हो अथवा उनसे एकरूप हो। लेकिन जिन लोगों ने नारी-शिक्षा का विरोध उन दिनों किया था, उनकी रचनात्मक दृष्टि नहीं थी, वे केवल विरोध करने के लिए इस तर्क का अवलम्बन कर रहे थे। उस काल में शिक्षित स्त्रियों ने जिस तरह अंग्रेजी फैशन को अपनाया उससे भी सामान्य जनता को असंतोष हुआ। इस क्रम में हती विद्यालकर और रानी भवानी जैसी शिक्षिताओं के नाम लिए गए जिन्होंने शास्त्र-विरोधी आचरण किया था। विरोध की इस तीव्रता के कारण स्त्री-शिक्षा के उद्योग में बहुत मंथर गति से ही काम आगे बढ़ सकता था। 1849 में आकर दो भारतीय उदार-पंथियों के प्रयत्न से गैर-ईसाई तत्वाधान में एक बालिका विद्यालय की स्थापना बरसेत मे हुई। इस विद्यालय को मिस्टर बेथुन के प्रयत्नों से सरकारी सहायता भी प्राप्त हुई और इस प्रकार इस दिशा में यह भारतीय प्रयत्न शासन संक्षेपित हुआ।[123] कलकत्ता में भी बेथुन के प्रयत्न से एक स्कूल की स्थापना हुई। इस स्कूल के अधिकारियों ने उच्च वर्ग के न बीच जाकर स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता बताई। दूसरी ओर अधिकारियों ने इस बात का भी ध्यान रखा कि उस विद्यालय में केवल कुलीन परिवारों की बालिका ही पढ़े। सबसे बड़ी बात यह हुई कि मि. बेथुन ने ईसाई मत को इस विद्यालय के पास भी फटकने नही दिया।

स्त्री-शिक्षा के आदि प्रचारकों में पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर का नाम अत्यंत आदर के साथ लिया जाना चाहिए। विद्यासागर ने शिक्षा-विभाग में काम करते हुए बालिका विद्यालयों की संख्या बढ़ाई। कभी-कभी वे अपने वेतन से पैसे निकालकर बालिका-विद्यालयो की सहायता भी किया करते थे।

देश में राष्ट्रीय जागृति जैसे-जैसे फैलती गई वैसे ही वैसे यह भाव भी विकसित हुआ कि विदेशी सरार को भारत के सामाजिक सुधार के काम में टाँग नही अड़ाना चाहिए। इस भाव के सबसे पहले पोषक बाल गंगाधर तिलक थे। देश में आगे चलकर क्रमशः स्त्री-शिक्षा के प्रचार के औचित्य के प्रति अनुकूल वातावरण तैयार हुआ।

स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में आरंभिक युग में जो महत्त्व बेथुन विद्यालय को प्राप्त हुआ था वही महत्त्व 1916 में स्थापित होने वाले दि इण्डियन वोमेन्स यूनिवर्सिटी (The Indian Womans University) को प्राप्त हुआ। इस विश्वविद्यालय को प्रोफेसर कर्वे द्वारा स्थापना के अगले ही वर्ष शिक्षा प्राप्त करने वाली छात्राओं की संख्या बढ़कर 12,30,000 के करीब हो गई।[124] स्त्री-शिक्षा में यह जो प्रगति दिखी, उसका क्रम बना रहा। भारत की स्वराज्य प्राप्ति के समय तक आकर इस दिशा में ऐसी प्रशंसनीय प्रगति हुई कि देश में चार पुरुषों के मुकाबले एक नारी अवश्य ही शिक्षिता पाई जाने लगी।[125] जैसे-जैसे स्त्री समाज में शिक्षा का प्रचार ही होता गया वैसे ही वैसे हिन्दू स्त्रियों को अपनी हीनता का अनुभव भी होता गया।

भारतीय नारी की जटिलतम समस्याओं में एक सबसे बड़ी कुप्रथा दहेज प्रथा की है। देश का प्राचीन इतिहास यह सिद्ध करता है कि 19वीं सदी के पहले दहेज का प्रश्न किसी भी अर्थ में जटिल नहीं था। लड़की के माता-पिता विवाहोपरांत अपनी कन्या को अपने प्रेम और ममता के आग्रह से कुछ दे दिया करते थे।[126] किन्तु इस विषय में कही भी किसी प्रकार की कोई बाध्यता नहीं थी। यह एक बहुत ही विचित्र बात है कि पश्चिम के उन्नत ज्ञान और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के उपरांत यह दहेज की माँग होने लगी। जो वर्ग जितना ही अधिक शिक्षित होता, जितनी ऊँची कुर्सी पर सरकारी दफ्तरो में बैठता - उसकी कीमत इतनी ही बढ़ती जाती थी।[127] बात यह है कि पाश्चात्य नवीन शिक्षा ने देश में एक नए वर्ग को जन्म दिया - जो बाबू कहलाया और जिसका रंग-ढ़ग जनसामान्य से बहुत कुछ भिन्न पड़ गया। यह सामाजिक कुप्रथा धीरे-धीरे एक गंभीर समस्या के रूप में खड़ी हुई। स्थिति इतनी भयंकर हो गई कि हिन्दू घरों में दहेज के अभाव में विवाह योग्य कन्याएँ अविवाहित दशा में पड़ी रही। कुछ कन्याओं ने अपने माँ-बाप को कन्या के विवाह की चिन्ता से मुक्ति देने के लिए आत्मघात भी किया।[128] इस सामाजिक प्रश्न ने जिस आर्थिक समस्या को जन्म दिया उसके परिणाम नाना रूपों में देखे गए। अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, कन्या-विक्रय आदि कुछ ऐसी ही सामाजिक विकृतियाँ है जो इस प्रश्न से संबद्ध है।

नारी शिक्षा का जो उद्योग हो रहा था उसमें बाधा स्वरूप यह समस्या सामने आयी कि घर से विद्यालय तक, कुलीन परिवारों की बेटियाँ किस तरह और कैसे जाएँगी। मिस्टर बेथुन को इस मामले में बहुत सतर्क होना पड़ा था।

धीरे-धीरे शिक्षा जब सर्वसाधारण में फैलने लगी तब स्वभावतः बेथुन का सवारी विषयक समाधान समस्या का हल नहीं ढूँढ पा रहा था। नारी शिक्षा संपन्न घरों से आगे बढ़कर मध्य वित्त वर्ग तक पहुँच रही थी। ऐसी स्थिति में पर्दे की सार्थकता के संबंध में सोचने की अपेक्षा नारी समाज को हुई।

पर्दे की इस प्रथा का इतिहास हमारे देश में कबसे आरम्भ हुआ अगर सब बात को लेकर मतभेद के लिए अवसर यदि हो भी तब भी इस बात को लेकर मतभेद की कोई भी गुंजाइश नहीं होनी चाहिए कि मुसलमानी अत्याचारों के जमाने मे इस प्रथा में जटिलता आयी। विकास के पथ पर बढ़ने वाली भारतीय नारियों ने इसको अनुचित माना। शिक्षिताएँ अब सूर्य उपमा बनी रहने के लिए तैयार न थीं। इसलिए पर्दे के बाहर आने के लिए उन्होंने संघर्ष किया। देश में सुधार का जो आंदोलन चल रहा था उसकी गति बहुत धीमी थी। सरकार सुधार कार्यों के प्रति निरुत्साह थी। सतारा में होने वाले सामाजिक कांफ्रेंस के मंच से श्री रानाडे ने यह घोषित किया कि गुलामी की दशा में सामाजिक उन्नयन का प्रयत्न सिद्ध नहीं होता। सामाजिक उन्नयन और राष्ट्र भावना के विकास तथा राष्ट्रीय मुक्ति के बीच परस्पर घनिष्ट संबंध होता है। दोनों को पृथक-पृथक नहीं किया जा सकता।[129] नारी समाज की शिक्षा की प्रगति के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना की लहर भी फैल रही थी। पर्दे की प्रथा नारी के राष्ट्र यज्ञ के सम्मिलित होने की दिशा में एक बड़ी बाधा सिद्ध हो रही थी। इसलिए भी नारियों ने पर्दे की गुलामी को नमस्कार किया।

1926 में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना हुई।[130] इसका उद्देश्य उस पराधीनता की परम्परा को नष्ट कर देना था जिसने हिन्दू नारियों को सींकचों में बाँध रखा था।

1905 के बंग-विभाजन के समय ही, बंगाल का नारी-समाज पुरुषों के साथ आंदोलन में सम्मिलत हुआ था। जिसके परिणामस्वरूप आंदोलन बहुत फैल गया। गाँधी-युग में भी नारियों को राष्ट्र-यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए, आंदोलन के कर्णधार महात्मा जी का आवाहन प्राप्त हुआ। सत्याग्रह-आंदोलनो के जमाने में नारियों में जो जोश देखा गया वह एक गौरव-गाथा है। कुलीन परिवारों की शिक्षित

नारियाँ धरना देती और पुलिस के डण्डे खाती। किसी भी राष्ट्र के इतिहास में ऐसी घटना सराहनीय होती है।

हिन्दू-समाज-व्यवस्था की एक जटिल उलझन जाति-व्यवस्था को लेकर है। अपनी सभ्यता के उषा काल में आर्यों ने जाति की व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर की थी। एक प्रकार से यह व्यवस्था श्रम के विभाजन की व्यवस्था थी और स्वभावतः दृढ़ और अपरिवर्तनीय नहीं थी। किंतु, समाज में ज्ञानोपलब्धि करने वाले ब्राह्मणों के महत्त्व वद्धर्न के साथ कमशः जाति-व्यवस्था गुण और कर्म पर स्थित न रहकर जन्म और पैतृक परम्परा पर अवस्थित हुई। किंतु ब्राह्मणों का महत्त्व जब अपने प्रकर्ष पर पहुँचा तब प्रतिक्रिया रूप यह विचार भी बद्धमूल हुआ कि समाज के जन्म को महत्त्व न देकर कर्म को महत्त्व देना चाहिए। औपनिवेशिक युग में इस विषय में बड़े स्पष्ट संकेत मिलते हैं। सत्यकाम जावाल का विवरण उपनिषद में आया है। वह बताता है कि देश में स्वतंत्र विचारों का जब जन्म हुआ तब जातिवाद के इस प्रश्न पर बड़े विवेकपूर्वक ढंग से विचार आरम्भ हुआ।

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन से यह परिलक्षित होता भी वर्ण उच्चता के अहंकार ने सिर उठाकर अनाचार किया, तभी प्रतिक्रिया भी हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में जो वैचारिक क्रांति हुई थी उसने भी ब्राह्मणों की महत्ता का विरोध किया और तथाकथित अन्त्यजों को सामाजिक और धार्मिक अधिकारों पर प्रतिष्ठित करने का उद्योग किया।

हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था का विरोध पहले तो केवल इसलिए किया गया था कि उसने एक विशेष वर्ग ब्राह्मणों को इतर वर्णों का भाग्य विधाता बना दिया था। सामाजिक और धार्मिक जीवन में आचरण के लिए संहिता बनाने का अधिकार रखने वाले ब्राह्मण वर्ग ने तथाकथित अन्त्यज वर्ग को और तो और भगवान से भी दूर कर दिया गया था। पन्द्रहवीं शताब्दी में जो कान्ति हुई उसका उद्देश्य तथाकथित छोटी जातियों को भक्ति-प्रधान जीवन बिताने का अधिकार देना था। कबीरदास जी ने एक मूल प्रश्न यह भी उठाया था। बड़े लोगों की नजर मे जो छोटे काम है उनको करने वाले छोटे थे, हीन थे। कबीर ने श्रम के महत्त्व का उद्घोष करते हुए यह भी कहा था कि काम कोई भी छोटा या बड़ा नहीं होता है।

काम तो सिर्फ काम होता है। इसलिए, पेशे को प्रमाण मानकर जाति-विषयक उच्चता अथवा हीनता का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

जाति व्यवस्था की एक बड़ी त्रुटि यह थी व्यक्ति अपनी पैतृक परम्परा से बाहर जाकर जीवनोंद्योग करने का अधिकारी नहीं रह गया था।[131] इस व्यवस्था के अंतर्गत योग्यता और शक्ति का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। दूसरी त्रुटि यह थी कि समाज में असमानता स्थिर होती थी। उच्चता और हीनता का प्रश्न खड़ा होता था। इस प्रश्न का उत्तर न्याय-विवेक के प्रमाण पर न देकर उच्च जातियों ने लाठी के बल पर दिया। कहना नही होगा कि इस व्यवस्था ने हिन्दू जाति के संघ-बल को कभी संगठित नहीं होने दिया।

इस व्यवस्था ने शोषण और अनाचार की जो परम्परा चलाई, उसके पोषण के लिए धर्म का उपयोग किया गया। धर्म-विषयक व्यवस्था का अंतिम अधिकारी होने का लाभ स्वार्थांध ब्राह्मण-वर्ग ने अबाध रूप में उठाया। छोटी जातियों के मानस को इस प्रकार कुंठित कर दिया गया कि उसमें प्रतिक्रिया का भाव पनप ही न सके। उनकों समझाया गया कि अपने पूर्वजन्म के पाप के कारण वे अन्त्यज हुए हैं। यदि इस जन्म में ब्राह्मण और शास्त्रों का वे विरोध करेंगे तो उनका अगला जीवन भी व्यर्थ जाएगा। धर्म के इस पूँजीवाद ने समाज में एक वर्ग का जन्म दिया, जो अपने दर्द का न तो अनुभव कर पाता था और न अपनी स्थिति से ऊपर उठने की चेष्टा ही। अन्त्यजों के इस वर्ग को इतना निकृष्ट समझा गया कि उसे अछूत की संज्ञा प्राप्त हुई और उसकी छाया के स्पर्श से ही उच्च वर्गों का शरीर अशुद्ध होने लगा। इस वर्ग के लिए देव-मंदिरों के दरवाजें बंद थे, वेद-पाठ और यज्ञ-संपादन की तो यह वर्ग कल्पना भी नहीं कर सकता था। छोटे-मोटे सामाजिक-अधिकार जैसे कुँए और पोखरे से पानी लेने के अधिकार भी इसे प्राप्त नहीं थे।[132] विचित्रता यह थी कि इस प्रकार दुर्दशा, अपमान और प्रताड़ना में पड़ा हुआ यह वर्ग भी हिन्दू जाति ही कहलाता था। भेदभाव की यह विषमता ऐसी हो गई थी कि समान रूप से अपराधी होने पर भी एक सवर्ण की अपेक्षा अवर्ण को कहीं अधिक दण्ड भुगतना पड़ता था और दण्ड की व्यवस्था भी सवर्ण ही किया करते थे।[133]

19वीं शताब्दी में समाज की सड़ी-गली मान्ताओं पर जब धक्का लगना शुरु हुआ तो पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान स्वभावतः इस सामाजिक अन्याय की ओर गया। देश में एक नए जीवन की अरुणिमा फूट रही थी। समुन्नत अंग्रेज जाति ने भारतीयों के लिए जीवनोंपयोगी सुविधाएँ बढ़ा दी थीं। हम यह कहकर ऐसा नहीं कहना चाहते कि अंग्रेज सरकार ही एकमात्र कल्याण-राज्य के पथ पर अग्रणी थी और उसी के अनुरोध से उसने रेल, डाक, तार आदि की व्यवस्था की थी। इतने बड़े भौगोलिक विस्तार के देश को अपने साम्राज्यवादी पंजे के नीचे रखने के लिए ही विशेषतः उन्हें इस प्रकार की व्यवस्था की अपेक्षा की थी। उनका चाहे जो भी उद्देश्य रहा हों उन्होंने इन सभी सुविधाओं का सिलसिला खड़ा किया हो, लेकिन इससे कही न कही कुछ तो रचनात्मक कार्य अवश्य हुए। रेलगाड़ी की व्यवस्था ने अब यातायात की सुविधा की समस्या को काफी हद तक सुलझाया भी। उसके साथ ही साथ उसने हिन्दू समाज की जड़ता पर भी, इस तरह से प्रहार किया मानों रेलगाड़ी की सवारी करने से एक अवर्ण को कोई सवर्ण उसकी जाति के प्रमाण पर कहीं रोक नहीं सकता था। जो अस्पृश्य था वह बगल में बैठाया जाने लगा और उसे अपने बगल में बैठा देने के लिए सवर्णो को विवश होना पड़ा। यदि रेल की यात्रा कई दिनों की हो तो फिर गाड़ी में अछूत के साथ भोजन करने के लिए विवशता को झेलना पड़ा। यह सच है कि आज भी समाज में ऐसे लोग भी मिल जाएँगे जो गाड़ी में कुछ नहीं खाते हैं। अगर उन्हें खाना भी है तो वे स्टेशन से नीचे उतर खाएँगे और कुछ ऐसे भी लोग है जो बाहर का खाना या कुछ भी खाद्य-पदार्थ वे नहीं खाएँगे। नवीन शिक्षा के कारण जैसे-जैसे सवर्ण समाज को यह अनुभव होता गया कि सचमुच अपने समाज में एक अविभाज्य अंग के साथ अन्याय होता चला आया है, वैसे इस विषय में रुढ़िवादी परम्परा को विछिन्न तो होना ही था। आज तो रेल के अलावा भी दूसरी सवारियाँ आ गई है और सामान्य तौर पर अछूतों से परहेज करने की प्रवृत्ति बहुत कुछ दूर हो गई है। लेकिन आज भी हम दावा नहीं कर सकते कि हरिजनों के साथ समाज ने अपने दायित्व का निर्वाह कर लिया है।

अब हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि अन्याय बोध के उपरांत समाज ने, अन्याय के शमन के लिए समय-समय पर क्या-क्या उद्योग किया।

गांधी जी ने सदा इस बात पर जोर दिया कि अस्पृश्यता निवारण का काम अपनी सर्वणता के अंहकार को बनाए रखकर नहीं हो सकता। वह तो एक प्रकार से रचनात्मक कार्य है जिसे अपने शील और आचरण के बल पर ही किया जा सकता है। सरकार ने अम्बेडकर को दलित वर्ग के नेता के रूप में खड़ा करके उनका अपनी राजनीति की स्थिति को पूरा करने का उपयोग किया। लेकिन कांग्रेस ने आम्बेडकर को अछूतों का नेता कभी स्वीकार नहीं किया। सदा इस प्रश्न को सामाजिक और साम्प्रदायिकता की भावना का ही प्रश्न समझा। उसका कोई राजनैतिक पहलू कांग्रेसियों के सामने मान्य नहीं हो पाया।

विवेच्य काल में हिन्दू-समाज की समस्याओं में एक मादक द्रव्य सेवन की समस्या भी है। सुरा का प्रचलन हाल में ही हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि शराबखोरी का विवेच्यकाल में बहुत प्रचार-प्रसार हुआ। कारण यह की देशी शराब की कीमतें बहुत कम होती थीं। थोड़े से आय प्राप्त करने वाला एक व्यक्ति जितने पैसे में भोजन करता उससे कहीं कम पैसे में शराब पीकर अपनी भूख को मिटा सकता था और आनन्द की जो प्राप्ति होती थी सो अलग ही।

मादक-द्रव्य सेवन के लिए अँग्रेज तिजोरियों की ओर से बड़े पैमाने पर प्रचार कार्य हुआ। आरम्भ में सस्ती कीमत पर अफीम जैसी नशीली और हानिकर चीज़, साधारण जनता के बीच प्रचारित की गई और जब बाद में लोगों को उस नशे की आदत हो गई तो क्रमशः उसकी कीमत भी बढ़ा दी गई। वर्मा के एक चीफ कमिश्नर मिस्टर हाइण्ड ने अपने एक प्रतिवेदन में इस तथ्य को स्वीकार भी किया था। बंगाल मे तो यह हालत थी कि जिस वर्ष शराब की विक्री से सरकारी आमदनी पिछले वर्षो के मुकाबले नहीं बढ़ती तो जिला अधिकारियों को अपने अधिकारियों की फटकार सुननी पड़ती। उस जमाने में शराब-बंदी-आंदोलन करने वालों ने मादक द्रव्य-प्रचार के पीछे अँग्रेजी चाल का पर्दाफ़ाश किया। उनका कहना था कि 1874 से लेकर 1920 तक का अगर लेखा-जोखा सामने प्रस्तुत किया जाय तो विदित होगा कि सरकार की आय प्रतिवर्ष बढ़ती ही चली गई। 1874 में प्रायः 2 करोड़ 33 लाख की आय शराब विक्री से सरकार को हुई थी। यह आय 1903 में प्रायः 8 करोड़ तक पहुँच गई।

कहना नहीं होगा कि जिस अनुपात में सरकार की आमदनी बढ़ती जा रही थी इसी अनुपात में भारत की जनता भी निरंतर लुटती चली जा रही थी। 1920 में कांग्रेस सरकार ने मादक द्रव्य निषेध का आंदोलन चलाया तो अंग्रेज सरकार के लिए यह असहनीय हो गया। लेकिन कांग्रेसियों का यह आंदोलन काफी कुछ कारगर सिद्ध हुआ और सरकार का इस वर्ष, इस खाते में बहुत बड़ी हानि हुई।

कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम के अंतर्गत इस आंदोलन को भी स्थान मिला और कांग्रेसजनों को स्वयं तो मादकद्रव्यों का बहिष्कार किया ही दूसरों को भी इसके लिए तदर्थ प्रेरित किया।

विवेच्यकाल में देश के लिए सामाजिक क्षेत्र में जो प्रयत्न हुए उनके मूल में बुद्धिजीवियों के उस वर्ग की प्रेरणा थी, जो नवीन पाश्चात्य शिक्षा और बर्क प्राइट और जैसे तत्वदर्शी मनीषियों के विचारों से प्रभावित था। कोई भी सुधार आंदोलन तब तक सफल नहीं होता जब तक समाज में बुराइयों के प्रति विरोध का भाव पैदा न करे। सफल सुधारक अपनी परम्परा से सर्वथा विछिन्न होकर नहीं चला करता। वे तो ऐसी शर्तें थी जिनका पालन करना इन लोगों के प्रति अनवार्य हुआ जो देश में सुधार आंदोलन चला रहा थे।

समाज के क्षेत्र में सुधार कार्य करने वालों ने अनुभव किया कि जो समाज खण्डों में विभक्त होकर अपना बल नष्ट कर चुका हो, उसको प्रगतिशील संसार में जीवित रहने में कठिनाई होगी। पश्चिम ने जिस सामाजिक समता को व्यवहार रूप में प्राप्त कर जन-जन को गौरव प्रदान किया था उसकी भारत को भी अपेक्षा थी किन्तु, समता के उस सिद्धांत को क्रियात्मक रूप देना हिन्दू समाज के लिए कठिन व्यापार था। जाति-व्यवस्था ने हिन्दू-समाज को इतने भागों में बाँट दिया था कि उन अनेकानेक भागों की विभाजक रेखा ऐसी बुलंद थी कि हिन्दू समाज समानता का अनुभव कर ही नहीं सकता था। हमारे सुधारक नेताओं ने इसलिए ऐसे समाज के गठन का आग्रह प्रस्तुत किया जिससे वर्ण उच्चता की स्थिति न रहे। इस नए परिप्रेक्ष्य में उस वर्ण धर्म को स्वीकार करने का आग्रह बुद्धिजीवियों के बीच नहीं रहा जो गुण और कर्म पर स्थिर हों। जाति-भेद से ग्रस्त हिन्दू-समाज के आगे, बड़े हिम्मत के साथ सुधार करने वाले उपस्थित हुए।

आर्थिक परिस्थितियाँ

यह सर्वविदित है कि प्राचीन इतिहास में हमारे भारत की प्रसिद्धि एक सोने की चिड़िया के रूप में जानी और पहचानी जाती थी। इस देश में अपार सम्पत्ति होने के कारण आकर्षण से विदेशी आक्रांताओं ने न जाने कितनी बार हमारे देश पर आक्रमण किया और न जाने कितनी सम्पत्ति यहाँ से लूटकर ले भी गए। श्री रजनीपान दत्त ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात बताई है कि भारतवर्ष गरीब लोग का देश है लेकिन वह गरीब देश नहीं है।[134] प्रकृति का जो अपार वैभव भगवान ने इसे दे रखा है उसका यदि सम्यक रूप से देश की कृषि और औद्योगिक विकास के लिए उपयोग किया जाए तो इस देश को एक बार फिर से सोने की चिड़िया के रूप में प्राप्त हो जाएगी।

अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश किया था उस समय भारत अत्यंत समृद्ध देश था और आर्थिक विकास की दृष्टि से संसार के अन्य देशों के बीच उसकी भी एक सुनिश्चित जगह थी।

सन् 1757 में जब क्लाइव मुर्शिदाबाद नगर में प्रविष्ट हुआ तब उस नगर की समृद्धि को देखकर यह भौचक रह गया था।[135] 17वीं और 18वीं शताब्दी में टेवर-नियर और मनौची जैसे विदेशी यात्रियों ने भी इस देश की समृद्धि का उल्लेख किया है। किन्तु, अपने शासन के कुल सौ वर्षों में ही ईस्ट-इण्डिया कंपनी ने इस इतिहास को बदल दिया। स्थिति ऐसी बुरी हो गई हो गई कि ऐडम स्मिथ जैसे राजनीतिक अर्थशास्त्री को अपनी पुस्तक 'वेल्थ आँफ नेशन्स' में सन् 1776 में ही यह लिखना पड़ा कि व्यापारियों की संस्था ईस्ट-इण्डिया ने भारत को एक बुरी सरकार दी है। एडम स्मिथ ने यह भी बताया कि ऐसी व्यापारिक संस्थाएँ सुशासन दे भी नहीं सकती हैं इसलिए कि देश के शासक और व्यापारियों के हित और दायित्व समान नहीं होते।[136]

हमें अब यह जानना जरूरी होगा कि अंग्रेजों के शासनकाल में भारत की आर्थिक व्यवस्था का रूप कैसा था। इस विषय को जानने के लिए हमें अंग्रेजों के

युग में भारतीय कृषि और भारतीय उद्योग धंधे की ओर भी विशेष रूप से ध्यान देना होगा।

भारत की भूमि का स्वत्व अंग्रेजों के आने के पहले शासन में निहित नहीं था। सम्राट भूमि-कर प्राप्त करने का अधिकारी तो माना जाता था किन्तु, भूमि उसकी है यह कभी किसी ने सोचा भी नहीं।[137] श्री राधाकमल मुखर्जी की पुस्तक 'लैण्ड प्राब्लेम्स इन इण्डिया' में यह बताया गया है कि भारत में भूमि ग्राम - पंचायत के स्वत्व में थी और राजा का उसके ऊपर किसी प्रकार का स्वत्व नहीं था।[138]

शासन का अधिकार था कि वह वार्षिक फसल का एक निश्चित भाग किसानों से ग्राम-पंचायत के माध्यम से प्राप्त करें। इस व्यवस्था का परिणाम यह था कि भूमि पर व्यक्ति का स्वत्व न होकर समुदाय का स्वत्व था। मुगलों के सुशासन के काल में जब देश की जमीन का सर्वेक्षण हुआ था तब भी इस व्यवस्था में परिवर्तन नहीं किया गया था।

अंग्रेजों के यहाँ भूमि संबंधी जो नियम प्रचलित थे वे इससे नितांत भिन्न थे। इस देश में आने के बाद भूमि-नियम विषयक जो परिवर्तन उन्होंने किए उनका ढाँचा सामान्यतः वही था जिससे उनका अपने देश में परिचय था। इस नए युग में भूमि का स्वत्व ग्राम-सभा का नही रह जाता। सरकार में देश की संपूर्ण भूमि का स्वत्व निहित हो जाता है। अब सरकार ने भूमिधारियों का वर्ग खड़ा किया जिसे निश्चित अवधि के लिए निश्चित लगान पर भूमि-विषयक अपना स्वत्व स्थानान्तरित किया यही वर्ग जमींदारों का हुआ। देश के कुछ दूसरे भागों में सरकार ने किसान के साथ अपना प्रत्यक्ष संबंध रखा। इससे वह सिलसिला चला जिसे रैयतवारी सिलसिला कहते है। आगे चलकर सन् 1793 में लार्ड कार्न वालिस के शासन-काल में बंगाल, बिहार और अवध क्षेत्र में जमींदारी की यह व्यवस्था स्थायी हो गई।

नवागंतुक अंग्रेजों ने जमीदारी प्रथा को कुछ तो इसलिए खड़ा किया कि भूमिकर उगाहने की यह सबसे आसान और सबसे कम व्यय-साध्य व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त उन्हे देश में एक ऐसे वर्ग को खड़ा करना था जो उनका मुँह देखता रहे और उसके बल पर अंग्रेज उस देश में बने रहें। अंग्रेजों को सामान्य जनता और अपने बीच एक ऐसा वर्ग बना लेना था जो उसके बदले में कर उगाह

दें, उनके इशारे पर काश्तकारों को अपनी मुट्ठी में रखे। लार्ड विलियम बैंटिक ने जो कंपनी के शासनकाल में गवनर-जनरल के पद पर सन् 1828 से 1837 तक प्रतिष्ठित था इसे निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया है -

If security was wanting against extensive popular tumult or revolution, I should say that permanent settlement,though a failure in many other respects and in its most important essentials, has this great advantage at least, of having created a vast body of rich Danded proprietors deeply interested in the continuance of the British Dominion and having complete command over the mass the people. [139]

देश के अगले इतिहास ने यह सिद्ध किया कि अंग्रेजों ने कैसी चतुराई से जमींदारों के इस वर्ग को खड़ा कर अपना हित साधन किया। अंग्रेजों के इस प्रबंध का परिणाम यह हुआ कि रैयतवारी बन्दोबस्ती के अन्तर्गत व्यक्ति-रूप में किसान भूमि का स्वामी हुआ जिसे लगान की नियमित रकम सरकार को दे देनी है। जमीदारीं प्रथा ने जमींदार को भूमि-पति बनाया। वह अपने असामियों से लगान वसूलता था और लगान की निश्चित राशि सरकारी खजाने में पहुँचा देता था।

कंपनी की सरकार के जमाने में किसानों पर बड़ा अत्याचार किया गया। उसकी कोशिश अधिक से अधिक लगान वसूलने की होती है। बहुत थोड़े दिनों में भूमिकर का बोझ दूना हो गया। सन् 1769-70 में बिहार और बंगाल में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके परिणामस्वरूप आबादी का तृतीयांश नष्ट हो गया। लेकिन जैसा कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि कंपनी ने लाशों तक से रुपया वसूल लिया।[140] उसी लूट के बाद कार्नवालिस के जमाने में दमामी बंदोबस्ती हुई।

सरकार इन जमींदारों को इस तरह देने के लिए विवश थी। उसका लक्ष्य इतने से ही पूरा हो जाता था कि उसके खजाने में जमींदार नियत तिथि को रकम पहुँचा दे। वह स्वयं शोषण करती थी तथा दूसरों को, जैसे जमींदारों को, शोषण करने के लिए स्वछंद बनाती थी। जमींदार किसान से लगान पाने का न्यायतः अधिकारी है भी या नहीं, इस विषय में तत्कालीन सरकार ने कभी नहीं सोचा। सरकार में भूमि का स्वत्व निहित था और उसे राज-काज के लिए रुपया चाहिए था। इसलिए यह समझ में आ गया कि उसका लगान पाने का अधिकार है। लेकिन भूमि के स्वत्व के जमींदार में स्थानान्तरित होकर आने से जमींदार का भी लगान पाने का कोई अधिकार है यह न्यायोचित नहीं दीखता। भूमि के स्वत्व के कारण

ही तो मुख्य रूप से सरकार को लगान मिलती थी। फिर उसी स्वत्व के नाम पर जमींदार जब लगान माँगता था तो स्पष्ट है कि वह एक ही अधिकार का दुबारा किसान पर प्रयोग करता था। जमींदारों ने यदि भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाया होता, प्रजा के सामान्य जीवन को ऊँचा उठाया होता तो उसे काश्तकार से कुछ माँगने का अधिकार हो सकता था। लेकिन वह ऐसा एकदम नहीं करता था। सरकार की ओर से जो लगान थी उससे ही उसे संतोष नहीं होता था।

श्री जवाहरलाल नेहरु ने आत्मकथा में यह लिखा है कि किसानों की दशा की जाँच करते समय उन्हें मालुम हुआ था कि जमींदारों ने काश्तकारों पर लगान का बोझ बढ़ा दिया था। वे निर्द्वन्द्व होकर नाजायज, वसूली किया करते थे और बात में काश्तकार को अपनी जमीन से बेदखल कर देते थे।[141]

पंडित जी ने जिस नाजायज वसूली का उल्लेख किया है उसके संबंध में पावना (बंगाल) के किसानों को भी गहरी शिकायत थी। इस शिकायत के कारण सन् 1873 में पावना में किसानों का सशक्त विद्रोह हुआ था। घोषणा का रूप बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त में प्रायः एक जैसा था। जमींदार स्कूल-खर्च, तार-खर्च, रसद खर्च, वारुणी-स्नान-खर्च और हाथ-बड़ा-महाप्रसाद के नाम पर बंगाल में नाजायज रकम वसूलता था।[142] बिहार में जमींदार किसान से 'आमदी', 'घोडहई', 'फरिकावन' आदि के नाम पर मनमानी रकम ऐंठता था। स्थिति ऐसी हो गई थी कि यदि वाजिब लगान चार रुपए की रकम होती तो नाजायज वसूली उसके ऊपर पाँच-सात रुपए तक जाती। जमींदारों तक अत्याचार की यह कहानी सीमित नहीं रहती थीं। जमींदारों के कारिंदे होते थे जिनकी सेवा भी किसान को करनी पड़ती थी। इस मद में किसान तहरीर और दस्तूरी देने के लिए विवश था। जमींदार का पावना किसान को अंग्रेजी के जमाने में नकदी रूप में चुकाना पड़ता था जैसा कि और तो और मुगलों के जमाने तक नहीं था।[143] कभी ऐसा होता कि किसान जमींदार को लगान नहीं दे पाता तो किसान को वह तुरन्त जमीन का इस्तीफा देने के लिए विवश कर देता।

यद्यपि जमीन की बन्दोबस्ती किसानों के हाथों स्थाई रूप में होती थी तथापि अनपढ़ कानून-कायदे से अपरिचित गरीब किसान इस विषय में अपना अधिकार कब खोज सकते थे और जो खोजे भी तों किससे? जमींदार के खिलाफ

सरकार सुनने ही वाली कब थी? बेदखली का जो सिलसिला किसान के साथ था वहीं जमींदार के साथ भी था। वह लाट रोडसेस निश्चित तिथि पर देने में यदि चूक जाता था तो उसकी जमींदारी को सरकार नीलाम पर चढ़ा देती थी। भूमि पर इतना दबाव पड़ रहा था कि उसकी माँग सदा बनी रहती थी।[144]

किसान जानते थे कि लगान वसूलने जमींदार ज्यादती करता है, नाजायज रकम वसूलता है और इन सबके ऊपर हली हुकूमत, वस्त्र-बेगार का सिलसिला होता था जिसके अनुसार काश्तकारों को अपना माल जमींदारों के हाथों उसकी सुविधा की दर से बेचने की लाचारी थी, उसकी खेती के लिए हल-बैल देना पड़ता था, बेगार करनी पड़ती थी। जो जमींदार किसी कारणवश नाराज हो जाता था तो वह जुर्माना ठोक सकता था और डंडे के बल से वसूल भी कर सकता था।

जैसे जमीन बंदीबस्त लेने वाले किसान आसानी से मिल जाते थे वैसे ही जमींदारी का नीलाम खरीदने वाले लोग भी सरकारी कचहरियों में भीड़ लगा देते थे। जमींदार घर की औरतों के गहने बंधक रखकर भी सरकारी रकम की अदायगी इस विपत्ति से बचने के लिए किया करता था। जैसे किसान का जमींदार पावना भुगतान करने के लिए अपनी जमीन कभी रेहन पर रखता था अथवा इसे बेच देता था। इस प्रकार जमीन और जमीन का अधिकार बाजार की बिकाऊ चीजें हो गई।

यह स्थिति अंग्रेजों के पहले इस देश में कभी नहीं आई थीं। किसान और जमींदार दोनों ही इस प्रकार अपने संकट के क्षण में किसी महाजन के शरणागत होने लगें। राजस्व का अन्न में भुगतान न कर सकने की असुविधा ने किसानों को बड़ी हानि पहुँचाई। उन्हें जब अन्न के लिए बाजार ढूढँना पड़ा तो इससे भी आगे बढ़कर वे फसलें उगानी पड़ीं जिनकी आवश्यकता ब्रिटेन को थी। कृषि के उस व्यवसायीकरण का परिणाम किसानों के हितों के लिए अच्छा नहीं हुआ।

अंग्रेजों के आने के पहले भारत के गाँव स्वावलम्बी थे। अंग्रेजों के आने के बाद गाँव का सामुदायिक संघ जीवन नष्ट हो गया। अब ग्राम-निवासियों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला कोई समान आर्थिक-हित भी नहीं रह गया। अस्तु, ग्रामीणों को एक दूसरे के साथ परस्पर सहयोग करने की आवश्यकता नहीं रह गई जैसे की पहले थी। पहले तो गाँव एक परिवार की भाँति रहा करते थे। गाँव की सारी जमीन ग्रामवासियों की सम्मिलित रूप में थीं। गाँव के बाहर जो दुनिया है उसके

गाँववालें प्रायः तटस्थ द्रष्टा ही होते थे। आवश्यकता की सारी चीजें उन्हें अपने गाँव में ही उपलब्ध हो जाती थीं। न तो उनको किसी बाज़ार में जाने की जरूरत पड़ती थी न वे किसी दूसरे के लिए बाजार रूप थे। अंग्रेजों की अमलदारी में भूमि पर गाँव का यह सामुदायिक अधिकार नहीं रह गया इसके कारण वह आधार ही शेष नहीं रह गया जहाँ समस्त ग्रामवासियों का आर्थिक हित एक हो सके।[145] अब व्यक्तिगत संपर्क का सिलसिला खड़ा हुआ और सामुदायिक हित का प्रश्न विस्मृत हो गया। इस स्थिति का एक भयंकर परिणाम यह भी हुआ कि ग्रामवासियों के बीच प्रेम के स्थान पर स्पद्र्धा और प्रतिद्वन्द्विता खड़ी हुई।[146]

भारत के किसानों की सबसे बड़ी समस्या है उसकी निर्धनता। इस निधनता के बहुत सारे कारण है। बढ़ती हुई जनसंख्या का भरण-पोषण जमीन से ही हो सकता है। उपज लायक जमीन की वृद्धि की ओर किसी का ध्यान नहीं था। नहीं तो देश में बेकार पड़ी हुई इतनी काफी जमीन है कि यदि वैज्ञानिक विधि से अधिक खाद देकर खेती की जाती, परती जमीन को जोत में लाया जाता तो किसानों की विपन्नता को किसी हद तक दूर किया जा सकता था। बढ़ती हुई आबादी के भरण-पोषण के लिए कृषि के अतिरिक्त दूसरे धन्धे भी खड़े किए जा सकते थे। किन्तु इन बातों की चिंता उस शासन-व्यवस्था को क्या हो सकती थी जो कर उगाहने में ही अपने कर्तव्य की इति-श्री समझती थी, अथवा उस जमींदार को ही क्या हो सकता था जो किसान की लाश से भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु जायज-नाजायज रकम उगाह सकता था।

संयुक्त परिवार की संस्था टूट रही थी और तद्नुसार जमीन का उपविभाजन और अपखण्डन का क्रम भी चल रहा था। स्थिति ऐसी हो गई थी कि बहुत से काश्तकारों को आर्थिक जोत का स्वामी होने का अवसर नहीं रह गया था।

अंग्रेजों ने इस देश में आकर यहाँ के कुटीर उद्योग को चौपट कर दिया। कभी वह दिन भी था जब भारत के कारीगरों के हाथ से तैयार माल संसार की मण्डी में विस्मय की वस्तु माने जाते थे। लंकाशायर के मिलों को आबाद रखने के लिए भारत के कुटीर उद्योग की निर्मम हत्या हुई।[147] किसान वर्ष में आठ महीने प्रायः बेकार रहता है। उसके घर में निठल्ले लोगों की अपार भीड़ खड़ी है। इस जनशक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाया जाता तो देश का नक्शा ही बदल गया

होता। किन्तु इस तरह की योजना वही शासन व्यवस्था बना सकती है जिसके हृदय में जन-कल्याण का उद्वेग हो। विदेशी शासन से हम ऐसी कल्याणकारी योजनाओं की आशा भी कैसे कर सकते हैं। भारत में किसानों का धन्धा अनिश्चय का धंधा है - जुआ खेलने के समान है। सिंचाई के लिए सरकार ने किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं की और इस प्रकार उसने किसान को भगवान भरोसे छोड़ दिया। परिणाम हुआ कि जमीन पर मेहनत से फसल उग ही आए यह अनिवार्य नहीं था।

राज-करों का बोझ; जमींदारों का अनाचार और कारिंदो की मनमानी ने किसानों की कमर तोड़ दी। इन उत्पातों तथा विपत्तियों से राहत पाने के लिए किसान को कर्ज लेना पड़ता। अब यह कर्ज की समस्या उसकी दूसरी मुसीबत बनकर खड़ी होती है। कोई किसान यह चाहे कि वह भूखों मर जाए लेकिन कर्ज न ले तो भी वह निश्चिंत नहीं रह सकता। उसे अपना ही कर्ज तो भरना नहीं पड़ता, अपने बाप का कर्ज भी पैतृक उत्तराधिकार के रूप में उस पर हावी हो जाता हैं।[148]

हमारा वह संस्कार भी विचित्र है जो किसान को सुझाता रहता है कि जब तक वह पितरों के कर्जे को पाट नहीं देता वे मरकर भी मुक्त नहीं होते। फिर किसान के ऊपर समाज और धर्म की मर्यादाओं का पहाड़ जो पड़ा हुआ हैं। अस्तु, उसे न चाहने पर भी कर्जदार बनना ही होगा। सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वाइरी कमिटी रिपोर्ट के सतहत्तरवें अनुच्छेद से यह विदित होता है कि सन् 1929 तक आकर ब्रिटिश भारत के किसानों के ऊपर प्रायः नौ सौ करोड़ का ऋण भार था। जथार तथा बेरी ने इस अनुमान को भी बहुत प्रमाणित नहीं माना है।[149]

सन् 1929 में जो भयानक आर्थिक मंदी हुई थी उसने किसानों को और अधिक कर्ज लेने के लिए विवश किया था। प्रीलिमिनरी रिपोर्ट आन एग्रीकल्चरल क्रेडिट - 1936 की अनुच्छेद संख्या 13 में यह बताया गया है कि सन् 1929 में कीमतों के गिर जाने के कारण जो हानि हुई थी उसका वस्तुओं के रूप में हिसाब लगाने पर किसानों के ऋण-भार का यह ब्यौरा कहीं बढ़ जाता था, प्रायः दूना हो जाता था।

महाजनी सभ्यता के प्रसार ने किसानों को भी विपन्न कर दिया। एक तो गरीबी, दूसरी मजबूरी और सूद की दर बेहिसाब।[150] किसान भागकर जाए भी तो

कहा? यह ठीक ही है कि सरकार ने ऋण की समस्या के लिए सन् 1878 में डेकन एग्रीकल्चरिस्ट्स बिल, सन् 1882-83 में तकाबी लोन-ऐक्ट, सन् 1884 में एग्रीकल्चरल बैंक स्कीम, सन् 1897 में निकालसन कमिटी की स्थापना और सन् 1903 में कोपरेटिव क्रेडिट सोसायटीज बिल विषयक उद्योग किया था। किन्तु इनसे किसानों का वास्तविक हित साधन कितना हुआ यह इससे ही स्पष्ट है कि वे दिनानुदिन गरीब होते गए। अपनी ही जमीन कर्ज पाटने के लिए महाजनों को अर्पित कर अपनी उन्हीं जमीनों पर वे मजदूर बनते गए। इस प्रकार देश में एक ओर तो बड़े काश्तकारों की संख्या बढ़ी, दूसरी ओर जमीन की सेवा करने वाला किसान भू-स्वामित्व के अधिकार को खोकर खेतिहर मजदूर होने लगा।[151]

देश में लेन देन का व्यापार चिरकाल से चलता आ रहा है, यह तो हमें यह भी याद रखना चाहिए। लेकिन तब वह मुसीबतें नहीं थीं जो आलोच्यकाल में खड़ी हो गई थी। पहले गाँव का साहूकार ही महाजन हुआ करता था और उस पर ग्राम-सभा का नियंत्रण हुआ करता था। उस जमाने में 'दाम-दुपट' अथवा 'दख-दूना' का रिवाज प्रचलित था जिसके अनुसार किसी भी अवस्था में ऋण का मूलधन बढ़कर दूने से अधिक नहीं हो सकता था।[152] इसलिए साहूकार कोसूद की मनमानी दर लगाने से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता था। इसके अलावा कर्ज की रकम में किसी किसान की ज़मीन पर साहूकार दावा भी नहीं कर सकता था। अस्तु, किसान के कर्ज की राशि का बेहिसाब बढ़ना संभव नहीं था और न वह अपनी जमीन से बेदखल ही किया जा सकता था।[153]

बहुत सारी जमीन किसी एक मनुष्य के हाथ में आ जाती है तब वह पूरा ध्यान रख सकने में समर्थ नहीं होता। उसे दूसरों से खेती करानी पड़ती है और चूँकि दूसरों का जमीन के साथ कोई हित नहीं होता। इससे कृषि-कर्म बाधित होता है, वाजिव फसल उगाई नहीं जा पाती और इस प्रकार राष्ट्र की हानि होती है। यही कारण है कि इस बुराई की तरफ लोगों का ध्यान आगे के जमाने की तरफ भी गया और ऐसे नियम बनाने की आवश्यकता हुई कि जिससे किसी व्यक्ति को निश्चित सीमा से अधिक भूमि रखने का अधिकार ही न हों। कर्ज विषयक जो सुधार कानून आगे जाकर बने उनमें 'दख-दूना' के सिद्धांत को भी स्वीकार किया गया।

पुर्तगालियों और डचों को भारत में तिजारत करते देखकर इंलैण्ड के कुछ व्यवसायिओं को भी भारत जाकर किस्मत आजमाने का उत्साह हुआ उनकी प्रार्थना पर उनकी संस्था ईस्ट-इण्डिया-कंपनी को सन् 1600 में रानी एलिजाबेथ की ओर से तिजारती सनद की प्राप्ति हुई थी। किंतु इस कंपनी को सरकार ने साफ-साफ कह दिया था कि उसे इतने भर की स्वीकृति दी जाती है कि ब्रिटिश माल को भारत की मण्डियों में बेचें। किंतु भारत में बने किसी माल को ब्रिटेन की मण्डी के लिए लाने का उसे सामान्यतः अधिकार नहीं होगा।[154]

सन् 1700-21 के बीच ब्रिटिश पार्लियामेंट के कई कानून पास हुए जिनका उद्देश्य भारतीय माल के ब्रिटेन के बाजार में प्रवेश के उपनिवेश खड़े हो गए थे। इन उपनिवेशों की उपयोगिता दो ही कारणों से थी। एक तो इनसे ब्रिटेन को कच्चा माल मिल सकता था और फिर तैयार माल के लिए ये ही मण्डी भी थे। अमेरिका की स्वतंत्रता के संग्राम ने ब्रिटेन की इस शोषण-नीति के क्रम को बाधित किया। ------ अफ्रीका, आस्ट्रेलिया को भी ब्रिटेन ने अपनी स्वतंत्र अर्थ-नीति स्थिर करने की अनुमति दे दी।[155] अब उनके पास भारत ही एक ऐसा देश था जिसका आर्थिक शोषण वह परम स्वतंत्र होकर वह कर सकता था। श्री वाडिया और मर्चेन्ट ने बताया है कि भारत को उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों ने अपने कच्चा माल का गोदाम बना दिया।[156] श्री रानाडे ने अपनी पुस्तक ' Essays in Indian economics ' में प्रस्तुत किया है। वे लिखते है -

"India became in the 19th century a plantation, growing raw produce to be shipped by British agents in British ships, to be worked into fabrics by British skill and capital, and to be re-exported into india by British merchants to their corresponding British firms in india and else where."[157]

स्वेज नहर के निर्माण ने किसी भी देश को अलग-अलग नहीं रहने दिया। भारत का कुटीर उद्योग अब अपने को अधिक दिन जीवित अवस्था में रखने के लायक नहीं था। पश्चिम में जो औद्योगिक क्रांति हुई थी और जिसके परिणामस्वरूप भारी उद्योग-धंधे खड़े हुए थे, वे उसके प्राणलेवा थे। मुसीबत यह हुई कि देश का कुटीर उद्योग तो नष्ट हुआ ही उसके बदले में भारी उद्योग-धंधों का विकास भी नहीं हुआ।[158]

अंग्रेजों ने इस देश में यातायात की सुविधा बढ़ाने के लिए रेलों की पटरी बिछाई और उन पर गाड़ियाँ भी दौड़ाई। रेल के आने से स्वभावतः यह उम्मीद की जा सकती थी कि देश के उद्योग-धंधों का पर्याप्त विकास होगा। किन्तु अंग्रेजों ने देश की व्यवस्था देश की आर्थिक-दशा के उत्थान के लिए तो की नहीं थी।

इतने बड़े देश ने अपनी सेना के सिपाहियों को एक जगह-से-दूसरी जगह भेजने की परेशानी ही वह मूल कारण थी जिसके चलते भारत में रेलगाड़ियाँ चलीं। हाँ, इस धंधे से अंग्रेजों को आर्थिक लाभ हुआ। इंलैण्ड के लोहे और इस्पात के माल की अच्छी खपत इस बहाने हो गई। इस रेल-व्यवस्था का दूसरा लाभ ब्रिटिश उद्योग को इस अर्थ में हुआ कि अब बड़ी आसानी से और कम व्यय में उनके माल का देश में भिन्न-भिन्न हिस्से से परिवहन किया जा सकता था। इस प्रकार इस युग में भारत में जो कुछ हुआ उससे अंग्रेजों का व्यावसायिक लाभ हुआ, न कि भारत का औद्योगिक विकास।

भारत का यह जो आर्थिक शोषण हुआ वह इस बात से ही प्रमाणित है कि सन् 1813 तक जो भारत मुख्य रूप से निर्यात करने वाला देश था अब आयात करने लगा।[159] श्री वेरा ऐन्स्टे ने ब्रिटिश नीति का रहस्य स्पष्ट करते हुए कहा है ळ

"It was thought inevitable that India should remain predominantly agricultural, whilst the Government wished to avoid both the active incouragement of industries that competed with powerful English interests and increased state expenditure. "[160]

इस नीति के अनुरूप ही सरकार ने तकनीकी ज्ञान देने के अतिरिक्त भारत के उद्योग के लिए कुछ नहीं किया। सन् 1905 में उद्योग और वाणिज्य-विभाग सरकार ने खोला। इससे यह आशा बंधी थी कि सरकार भारत को उद्योग के पथ पर ले चलेगी लेकिन वैसा कुछ हुआ नहीं। बंग आंदोलन ने सरकार की नीति की प्रतिक्रिया में स्वदेशी आंदोलन का जोर बढ़ाया। देश में उद्योग के विकास के लिए जो थोड़ा बहुत हुआ उसका श्रेय बंग-आंदोलन को ही मिलना चाहिए न कि अंग्रेज शासको को। सन् 1900 में लार्ड मार्ले से किसी प्रकार की उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। ब्रिटेन में एक बड़ा जर्बदस्त आंदोलन खड़ा हुआ जिसने माँग की कि सरकार को भारत के औद्योगिक विकास में किसी प्रकार की रुचि नहीं लेनी चाहिए।[161]

जीवन संघर्ष

सृजन-मात्र के पीछे संघर्षकालीन यंत्रणा वा यातना कारणभूत होती है। इसके अभाव में मानवीय संवेदना या मानवीय संस्पर्श की स्फुरणा संभव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कथाचित विधाता ने भी एकाकीपन की यातना को अपने से भुलाने के लिए ही इस सृष्टि का निर्माण किया होगा। 'एकोहम् बहुस्याम' आखिर किसे कहते है? दरअसल किसी भी रचना मार्ग संघर्ष व पीड़ा के ही मार्ग से होकर गुजरता है। जब तक किसी कवि या लेखक के अन्तर्मन से सही दर्द सरोकार नहीं होगा, तब तक वह तो अमानवीय संवेदना से परिपूर्ण रचना नहीं दे पाएगा। ऐसा उचित ही कहा गया है - "जाके पाव न फटे बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई?" गुजराती के कवि ने भी कुछ ऐसा ही कहा है -

"दुःखीना दुःखनी तातो सुखी ना समजी सके,

सुखी जो समझे पुई, दुःख ना विश्तमां टके।"

अर्थात् सुखी-सम्पन्न व्यक्ति दुखियों के दर्द को नहीं समझ सकता, यदि समझता तो क्या दुःख अभी तक विश्व में रहता?[162]

इतना तो वैश्विक इतिहास में निरुपित महापुरुषों के जीवन के अध्ययन से भी प्रतिफलित होता है कि उनका जीवन संघर्ष की एक अनवरत यात्रा रहा है और उनकी सफलता का रहस्य भी उन्हीं संघर्षों के बीच में दृष्टिगत होता है। "हिन्दी के लेखक गुलाबराय की तो आत्मकथा का नाम ही 'मेरी असफलताएँ' हैं।"[163] इसी अभिप्राय का एक शेर भी मिलता है -

"सुखरु होता है इंसान, ठोकरे खाने के बाद,

रंग लाती है हीना, पत्थर पर घिस जाने के बाद।" [164]

डॉ. पारुकांत देसाई ने भी एक पुस्तक की भूमिका में लिखा है -

"हम भी दुनिया में आते, खाते, चले, जाते;

पर मिला दर्द का मोती, तो सोचा कुछ लिख जाते।"[165]

मतलब यह है कि किसी भी लेखक के लेखन के पीछे, उसके लेखकीय अनुभवों के पीछे एक मुकम्मिल संघर्ष-यात्रा रहती है, जिसके अभाव में वह कशिश ही न रहती जो उसके लेखन का प्राण-तत्व है। हमारे आदि महाकाव्य रामायण की सृष्टि के पीछे भी मर्मवेधी घटना है। यही तो अंतर होता है एक सामान्य मनुष्य और कवि में, जहाँ सामान्य मनुष्य अपने ही दुःखों को लेकर रोता रहता है, वहाँ लेखक या कवि परपीड़ा को भी गले से लगा लेता है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार शैलेश मटियानी इसे ही कलाकार का वाल्मीकि-धर्म कहते हैं। "मेरी मान्यता यह रही है कि यदि साहित्यकार स्वयं शोषित या पीड़ित न रहा हो, तो भी उसे शोषितों और पीड़ितों का पक्षधर होना ही चाहिए, न कि शोषको का। वर्ण-वर्ग-व्यवस्था और वादों से परे, साहित्यकार की एक अलग स्थिति होती है, जहाँ तटस्थ भाव से साहित्यिक-सृजन के अतिरिक्त, 'कार्यवध' की कल्पना संवेदित और व्यर्थ की हिंसा-वृत्ति के प्रति क्रुद्ध होता है। वाल्मीकि-धर्मा साहित्यकार यदि पीड़ितों के प्रति संवेदना-सहानुभूति नहीं रखता, तो वह जन-कल्याण के संगमरमरी सोपनों से लुढ़ककर, जन शोषकों की कुत्सित शरण में ठौर पाता है और उसका स्वधर्म सिर्फ यशार्जन-धनार्जन और पुस्तकों के प्रकाशन तक ही सीमित होता है।[166]

इसी दर्द को जैनेन्द्र जी मानव-मणि का रूपक देते है।[167] जिस प्रकार एक मणिकर सर्प अपने मणि के प्रकाश में विचरण करता है, उसी प्रकार किसी भी लेखक का लेखन भी उसमें अन्तर्निहित दर्द के मानस-मणि के इर्द-गिर्द ही विचरण करता है। बिना पीड़ा या यातना की अन्तर्प्रेरणा के कदाचित महान साहित्य नहीं रचा जा सकता।

प्रेमचंद जी को जिन यातनाओं से, यंत्रणाओं से गुजरना पड़ा, जो संघर्ष उन्हें झेलने पड़े, वे संघर्ष और यंत्रणाएं यदि न होतीं तो शायद प्रेमचंद, प्रेमचंद न होते। जिस मानवीय संवेदना और संस्पर्श की हम बात करते हैं, प्रेमचंद के संदर्भ में उसका अभाव होगा। प्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू बावरा के संबंध में एक किंवदंती प्रचलित है कि जब तक उसने प्रेमजनित वियोग का अनुभव नहीं किया था, तब

तक उसकी गायकी में दर्द का सचित्र नहीं था। अभिप्राय यह है कि संघर्षपूर्ण जीवन किसी लेखक या कवि रचना सृष्टि को प्राण-तत्व देता है।

अतः प्रेमचंद जी का जीवन-संघर्ष के नाना आयामों को विश्लेषित करने का उपक्रम है। शोध-प्रबंध की भी यही माँग है।

शैशवकालीन संघर्ष

संसार के इतिहास तथा उसके महान चरित्रों से एक तथ्य भलीभाँति उद्घाटित होता है, वह पक्ष कि उनके जीवन के गठन या बुनावट में उनके जीवन से घटित शैशवकालीन संघर्षों का महत्त्व अपरिहार्य रहता है। शैशवाकालीन किसी के भी लेखन को बहुत दूर तक प्रभावित करते हैं। जब किसी का शैशवकाल संक्रमणशील या संघर्षशील स्थितियों से गुजरता है, तो उसकी दो परिस्थितियाँ संभव हैं - या तो वह बच्चा पथभ्रष्ट होकर आवारा, बदमाश या चोर हो जाएगा या फिर संघर्ष की अग्नि में तपकर कुंदन की भाँति चमककर बाहर आएगा। प्रथम की संभावना कम होती है, दूसरी की कम। परन्तु जब दूसरी संभावना ही मानवता की झोली को भरती है। प्रेमचंद का शैशव भी संघर्ष का एक इतिहास है। परन्तु इन संघर्षों ने प्रेमचंद के लेखन की पश्चाद्भ को तैयार किया है।

प्रेमचंद के पूर्वज उत्तर-भारत में कायस्थ कहीं जाने वाली श्रीवास्तव जाति से संबंधित है। यह जाति मुगलकाल से ही बड़ी दक्ष और चतुर समझी जाती रही है। उनके पूर्वज बनारस से आजमगढ़ जानेवाली सड़क पर, शहर से करीब चार मील दूर एक छोटे से गाँव लमही, मौज़ा मढ़वाँ में रहते थे। उनके पितामह मुन्शी गुरसहायलाल लमही के पटवारी थे और उनका परिवार शानों-शौकत से रहता था। पटवारीगिरी के दरमियान थोड़े ही वर्षों में उन्होंने लगभग साठ बीघा जमीन अर्जित कर ली थी।[168]

मुंशी गुरसहायलाल के चार पुत्र थे - कौलेश्वर लाल, महाबीर लाल, अजायबलाल और उदितनारायण लाल। इनमें महाबीर लाल ने अपने बुद्धि-चातुर्य

द्वारा अपने पिता को प्रभावित करते हुए सारी जमीन अपने नाम करवा ली। बाद में उनके ही एक दूर के संबंधी ने वह जमीन भी उनसे हड़प ली और उनके पास केवल 6 बीघा जमीन रह गई।[169] यह जमीन महाबीर लाल के पुत्र बलदेव लाल को मिली। अतः मुन्शी गुरसहाय लाल के दूसरों पुत्रों को अपनी पैतृक संपत्ति छोड़कर सरकारी नौकरी पर ही निर्भर रहना पड़ा। इस संबंध में मनोहर बन्दोपाध्याय लिखते हैं – "While Mahabir Lal lived on forming, the other head to look for Govrnment jobes for per livelihood eventually all the three took up in postel deepartment."[170]

गुरसहाय लाल मौत के पश्चात महाबीर लाल के चचेरे भाई हरनारायण लाल ने अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों में फँसाकर उनकी 60 बीघा जमीन पर कब्जा कर लिया, इस बात पर चर्चा हम पहले भी कर ही चुके है। अब इस परिवार के पास केवल 6 बीघा जमीन रही, जिस पर इतने बड़े परिवार का गुजर-बसर हो पाना असंभव था। अतः कौलेश्वर लाल को डाकखाने में मुन्शी बनना पड़ा। उन्होंने अपने छोटे भाई अजायब लाल को (प्रेमचंद के पिता) अपने ही विभाग में भर्ती करवा लिया। मुंशी अजायब लाल ने मासिक दस रुपए के वेतन से अपनी नौकरी शुरू की जो निवृत्ति के समय 40 रुपए तक पहुँची।[171]

अजायब लाल ने अपने छोटे भाई उदितनारायण लाल को भी डाकखाने में नौकरी दिलवा दी। कौलेश्वर लाल तीस वर्ष की ही छोटी उम्र में ही स्वर्ग को सिधार गए। उनकी पत्नी कुछ दिनों तक लमही में ही रही, फिर अपने बच्चों को लेकर चुनार नामक गाँव में रहने लगी। उनका बेटा मोतीलाल भी तीस उम्र की अवस्था में ही पत्नी और चार बच्चों को छोड़कर परलोक चले गए। छोटे भाई उदितनारायण को गबन के सिलसिले में 7 वर्ष की सजा हो गई। जब लौटे तो शर्म के मारे किसी को मुँह न दिखा सके, फिर ऐसे चले गए कि किसी को कुछ पता ही नही चला। उनका लड़का भी आवारा निकल गया और वह भी घर से भाग गया।[172]

इतने बड़े परिवार का निर्वाह 6 बीघे जमीन से करना मुश्किल था। कमाने वाले पूरे परिवार में सिर्फ अजायब लाल ही थे। अपनी तनख्वाह में से कुछ रुपए कौलेश्वर की विधवा पत्नी को भेजते। इसके अलावा उनकी लड़की की शादी भी उन्होंने की और अपने दूसरे रिश्तेदारों को भी यथासंभव कुछ-न-कुछ सहायता करते

रहते थे। अतः आर्थिक दृष्टि से वे सदैव चिंतित रहते थे और इसका प्रभाव उनके परिवार और बच्चों पर भी पड़ता था, जिसका संकेत प्रेमचंद ने अपने निम्नलिखित कथन में दिया है - "मुझे महीने में बारह आने में से मैं एकाध आना हर महीने खा जाता था। जिस मुहल्ले में मैं रहता था, उसमें छोटी जाति के लोग रहते थे। वे लोग मुझसे दो-चार पैसे लेकर खा लेते थे। घर में माँ तो थी नहीं। चाची से ही माँगता। वे बुरी तरह से झल्लाती थी। पिता को कहने की हिम्मत न थी। इसलिए माता जी की याद बार-बार सताती थी।[173]

प्रेमचंद के पिता अजायब लाल सरल हृदय के व्यक्ति थे। उन्हें हिन्दू धर्म-शास्त्रों का थोड़ा बहुत अध्ययन भी था, तथापि स्वभावतः वे रुढ़िचुस्त या परंपरावादी कम थे। प्रेमचंद की माँ आनंदी देवी भी सरल, भावुक, घर एवं पति का ध्यान रखने वाली एक सहज घरेलू महिला थीं। गरीबों, तथा दीन-दुखियों के प्रति वे बड़ी ही उदार हृदय वाली महिला थीं। परन्तु प्रेमचंद जी माँ की उस अतुलनीय वत्सलता से वंचित रहे, क्योंकि आठ वर्ष की उम्र में ही उनका परलोकगमन हो गया। माँ की मृत्यु के बाद उनकी बहन सुग्गी का ब्याह हो गया और वह भी ससुराल चली गई। दादी माँ बीमार पड़ गई और लमही चली गई। अतः अजायब लाल ने देखा कि बिना पत्नी के गृहस्थी चलाना एक कठिन कार्य है। अतः उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया। प्रेमचंद जी अपनी सौतेली माँ को चाची ही कहा करते थे। पर उनकी चाची उनके साथ बहुत ही दुर्व्यवहार किया करती थी। अजायब लाल ने बुढ़ापे में शादी की थी, अतः उनकी युवा पत्नी उन पर बहुत ही रूआब गाँठती थी। पर वे विचारे विवश और लाचार थे। सौतेली माँ के खौफ को दूर करने के लिए दादी थोड़े दिनों के लिए आई; परन्तु प्रेमचंद जी के दुर्भाग्य से थोड़े ही दिनों में वह भी परलोक सिधार गईं। दादी की मृत्यु के बाद विमाता का दुर्व्यवहार और भी बढ़ गया।[174] इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रेमचंद जी बुरी संगत में पड़कर तम्बाकू, बीड़ी और हुक्का का सेवन करने लगे और कुछ ऐसी भी बाते सीख गए जो उनकी उम्र के बच्चों के लिए हितकर नहीं होती। इस संदर्भ में मनोहर बंदोपाध्याय जी ने लिखा है - "ही हेड इन द मिनव्हाईल फालन इण्टु बेड कंपनी, अवे फ्राम स्टेप-मदर्स टायरनी इन द हाउस, ही वुड स्पेण्ट टाईम्स इन स्पोट्स फोर मोस्ट आफ द टाईम। ही टुक स्मोकिंग एण्ड एट द टेण्डर एज आफ थर्टिन हेड लर्न्ट सच थिंग्स व्हीच इज डेन्जरस फोर द चिल्ड्रेन ऑफ दैट इज।"[175]

उन्हीं दिनों में उन्हें चोरी की भी आदत पड़ गई थी। एक दिन उन्होंने बलभद्र के साथ मिलकर घर से एक रुपया उड़ाया था। दिन भर मटरगस्ती करके जब शाम को घर पहुँचे तो उनके पिताजी ने पूछा कि उन्होंने रुपया चुराया है या नहीं। मुँह से केवल इतना ही निकला था कि - " मैनें कहा ----- मुँह से पूरी बात भी नहीं निकल पाई थी कि पिताजी विकराल रूप धारण किए, दाँत पीसते झपटकर उस ओर हाथ उठाए मेरी ओर चले। मैं जोर से चिल्लाकर रोने लगा। ऐसा चिल्लाया कि पिताजी भी सहम गए।"[176] उनका हाथ उठा का उठा ही रह गया। पिताजी सोचने लगे कि अभी जब इसका यह हाल है तो तमाचा पड़ने के बाद कहीं इसकी जान भी निकल सकती है। नवाब ने जब देखा कि यह हिकमत तो काम ही कर गयी तो और भी तेज-तेज गला फाड़-फाड़कर चिल्लाना शुरु कर दिया। इतने में मंडली के दो-तीन आदमियों ने पिताजी को पकड़ लिया और नवाब को इशारा किया कि भाग जा। नवाब चुपके से खिसक गए। इस प्रकार नवाब तो सस्ते में छूट गए, पर बलभद्र की बुरी तरह पिटाई हुई थी।[177]

उन्हीं दिनों में नवाब के पिताजी को शराब की लत लग गई थी, जिसका सांकेतिक चित्रण प्रेमचंद जी ने कुछ इस प्रकार से बयान किया हैं - "पिताजी का स्वास्थ्य इन दिनों में कुछ खराब हो गया था। छुट्टी लेकर घर आए थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्हे शिकायत क्या थी? पर मूँग की दाल खाते थे और संध्या समय शीशे के ग्लास में एक बोतल में से कुछ उड़ेल-उड़ेल कर पीते थे। शायद यह किसी तजुर्बेकार हकीम की बताई हुई दवा थी, पर पिताजी न जाने दवा को खूब मज़ा ले-लेकर पीते थे। हम तो दवा पीते है तो आँखे बंद करके एक ही घूँट में गटक जाते, पर शायद इस दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता है। पिता के पास गाँव के दो-तीन और कभी-कभार चार-पाँच रोगी भी जमा हड़प जाते और घंटों दवा पीते रहते।"[178]

वस्तुतः नवाब जिसे दवा समझ रहे थे वह शराब ही थी। अभिप्राय यह हुआ कि नवाब को अपने बचपन में ही ऐसे न जाने कितने विषयों का ज्ञान प्राप्त हो चुका था, जो एक बच्चे की लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

माँ की मृत्यु नवाब को नागवार गुजरती है, क्योंकि उस समय नवाब बहुत ही छोटे थे, उन्हें तो उतना भी पता नहीं था कि लोग क्यों इतना रो रहे हैं।

लेकिन जब उनको समझ में आया तब इना वे रोए कि अपने साहित्यिक जीवन में वे आजीवन मातृप्रेम के वर्णन ही करते रहे। सौतेली माँ से बचने के लिए नवाब दिन के समय में अधिकाशतः बाहर ही रहा करते थे। फलतः कुसगति के कारण कुछ खराब आदतों के भी शिकार हो गए। विमाता के त्रास के कारण ही नवाब काल्पनिक दुनिया में रहने लगे। उन दिनों में वे तम्बाकू की दुकान पर चले जाया करते थे। इस तम्बाकूवाले का बेटा नवाब का ही सहपाठी था। तम्बाकू के बड़े-बड़े काले पिंडों के पीछे बैठकर तम्बाकूवाला और उसके कई सारे मित्र हुक्का पीते और "तिलिस्म-ए-होशरुबा" की अटूट तिलस्मी कहानियाँ सुनते। इस ग्रन्थ के 17 भाग निकल चुके थे। एक-एक भाग का आकार कम-से-कम दो-दो हजार पृष्ठों से कम का नहीं होता था। इन 17 भागों के उपरांत उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर 25 भाग छप चुके थे, जिसने इतने बड़े ग्रंथ की रचना की, उसकी कल्पना-शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है। कहते है कि ये कथाएँ मौलाना फैज़ी ने अकबर के विनोदार्थ फ़ारसी मे लिखी थीं। इतनी वृहद कथा संसार की किसी अन्य भाषा मे शायद ही हो। पूरा 'इनसाइक्लोपीडिया' समझ लेना चाहिए। नवाब इन कहानियों के रस में ऐसे डूबे, उनकी चेतना ऐसी जगी और इस ग्रंथ में रोमांटिक कहानियों का जो बीज पड़ा वह आगे चलकर एक विशाल वृक्ष बन गया।[179]

बालक धनपतराय या नवाबराय को शैशवकाल में अनेक अभावों से गुजरना पड़ा। मुंशी अजायब लाल अपने ही कस्बे के डाकखाने में मुलाजिम थे। आमदनी सीमित थी। चादर देखकर ही पैर पसारते थे। थोड़ी तनख्वाह के कारण बहुत सी इच्छाओं का खून करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में भला नवाब के इरादे कैसे पूरे हो सकते थे। ऐसे अभावग्रस्त वातावरण में बच्चे का जो तौर-तरीका और स्वभाव बन जाता है, उसका पता हमें धनपतराय के बचपन से ही मिलता है। उदाहरणतः बचपन में उन्हें पैसे जमा करने की आदत थी जो बाद में छूट गई, क्योंकि बाद में गरीबी इतनी बढ़ी की खर्चे ही जैसे-तैसे चलते थे। अतः पैसे जमा करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। डाकखाने का क्लर्क अपने बेटे को अधिक पैसा देने का सामर्थ्य नहीं रखता। घर का खर्च भी सुगमता से नहीं चलता था। इसलिए धनपतराय दूसरे बच्चों की तरह मनमानी चीजों के लिए हमेशा तरसते रहते थे। "होली की छुट्टी" नामक कहानी में प्रेमचंद ने अपने ही शैशवकालीन अभावों की

वाणी प्रदान की है। इसका समर्थन शिवरानी देवी ने भी अपनी पुस्तक "प्रेमचंद घर में" किया है।[180] कहानी का नायक माँ के मैके चले जाने के बाद घर में पड़ा गुड़ चुरा-चुराकर खाता है। अभावग्रस्त जिंदगी में ऐसी आदतें अक्सर पड़ जाती है। मीठे और स्वादिष्ट भोजन प्रेमचंद की खास कमजोरी रहे है। क्योंकि बचपन के अभाव-ग्रस्त जीवन ने उनको इतना दुखित करके रखा कि उससे वे आजीवन छुटकारा नहीं पा सके।

प्रेमचंद स्नेह से प्रायः वंचित ही रहे। उनका शैशव हमेशा लाड-प्यार के लिए तरसता रहा। माँ शुरु से ही बीमार रहा करती थी। बाप को दवा-दारु से ही फुरसत नहीं मिलती थी। अभी धनपतराय सात-आठ वर्ष के बच्चें ही थे कि उनकी माता का भी देहान्त हो गया। माँ की असमय मृत्यु ने निरीह बालक के मन पर कठोर आघात किया। प्रेमचंद इस आघात को कभी नहीं भूल सके। उनकी अनेक कहानियों और उपन्यासों में उनकी यह झलक देखी जा सकती है। "कर्मभूमि" उपन्यास का नायक अमरकांत भी माँ के स्नेह के लिए तड़पता है। अतः अमरकांत के रूप में मानों प्रेमचंद जी ही वहाँ पर बोल रहे हैं - "जिन्दगी की जब वह उम्र जब इन्सान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरुरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौधे को तरी मिल जाए तो, जिन्दगी भर के लिए उसकी जड़े मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खुराक न पाकर जिन्दगी झाड़ हो जाती है। मेरी माता का देहान्त उसी जमाने में हुआ और तब से मेरी रुह को खुारक नहीं मिली। वहीं भूख मेरी जिन्दगी है। मुझे जहाँ मुहब्बत का एक रेजा भी मिलेगा, मैं बेअख्तियार उसी तरह जाऊँगा। कुदरत का अटल कानून हमें उस ओर ले जाता है। इसके लिए अगर मुझे कोई खतावार कहे तो कहे। मैं तो खुदा को ही जिम्मेदार कहूँगा। ------- दुनिया में सबसे बदनसीब वह है, जिसकी माँ मर गई हों।"[181]

शैशवावस्था में माँ की मृत्यु निश्चित रूप से एक दुर्भाग्यिपूर्ण स्थिति है। परन्तु उससे भी बड़ी दुर्भाग्यिपूर्ण स्थिति यह रही कि उने पिता ने थोड़े ही समय में दूसरा विवाह भी कर लिया। नंहे धनपतराय का ऐसी सौतेली माँ से पाला पड़ा कि जो उनके साथ बहुत ही ज्यादा निष्ठुरता के साथ पेश आती थी। इस मनोवस्था को "सौतेली माँ" नामक कहानी में प्रेमचंद ने बहुत ही मार्मिक ढ़ग से चित्रित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके एक-एक शब्द में प्रेमचंद के दर्द को भर दिया हो। उसमें सर्वाधिक लज्जाजनक स्थल तो वह है जहाँ बच्चा दीवार की ओर

मुँह करके खड़ा-खड़ा रो रहा है, लेकिन बाप के आने पर झटपट आँखे पोछ लेता है। उसकी आँसुओं से भीगी आँखों को देखकर, जब उसका पिता पूछता है - "तू रोता क्यों था? क्या तेरी माँ ने तुझे पीटा था? तो बच्चा जबाब देता है - नहीं, वह तो बहुत अच्छी है।[182] यहाँ उस रोते हुए बच्चे की विवशता मानों स्वयं धनपतराय की विवशता हो। इस प्रकार दरिद्रता, विमाता द्वारा किया गया निष्ठुर व्यवहार, पिता की अवहेलना और उदासीनता, यही वातावरण था जिसमें बालक धनपतराय का बचपन बीता।

माता-पिता के प्रेम से वंचित रहने के कारण प्रेमचंद के बचपन में एक आवारगी सी मिलती है। वे कई-कई दिनों तक स्कूल भी नहीं जाते थे। मुंशी प्रेमचंद जाति के कायस्थ (श्रीवास्तव) थे। ये लोग प्रायः सरकारी नौकरी के द्वारा जीविका अर्जित करते हैं। अतः उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा पर अधिक बल देते थे। क्योंकि उन दिनों कोर्ट-कचहरी तथा सरकारी कामकाज में ये ही भाषाएं चलती थी। अतः धनपतराय की शिक्षा भी उसी कायस्थ परम्परा के अनुसार हुई और उन्होंने मदरसे जाना शुरु किया। अपने मदरसे जाने का हाल उन्होंने अपनी एक कहानी "चोरी" में किया हैं - "मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गाँव में एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र आठ साल थी। हलधर (अब वे नहीं रहे) मुझसे दो साल जेठे थे। हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियाँ खा, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था मौलवी साहब के यहाँ कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं और न गैरहाजिरी का जुर्माना ही भी देना पड़ता था। फिर डर किस बात का। कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की कवायद देखते, कभी किसी भालू या बंदर नचाने वाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते। कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते गाड़ियों का बहार देखते। गाड़ियों के समय का ज्ञान जितना हमकों था, उतना शायद टाइम-टेबल को भी न था --------- कभी-कभी हम हफ्तों गैरहाजिर रहते; पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि इनकी चढ़ी हुई त्यौरियाँ उतर जातीं।"[183]

इस उद्धरण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि धनपतराय को मदरसे, मौलवी और पाठ्यपुस्तक की किताबों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। मदरसे की 'तोता रटंत' से वे खुले वातावरण में घूमना, गोलियाँ खेलना, और तो और

बैण्डबाजा सुनना वे ज्यादा पसंद करते थे। इस आवारगी में उनका चचेरा भाई सदैव ही उनका साथ दिया करता था, जो कि उम्र में उनसे दो वर्ष बड़ा ही था। एक बार घर से उन्होंने अपने चाचा का एक रुपया चुराया और दरिया के किनारे बैठकर मिठाई और फल खाए। बाद में चोरी का पता चलने पर चचेरे भाई की खूब मरम्मत हुई इसके कुछ ही समय बाद में मुंशी अजायब लाल की तरक्की हो गई और उन्हें डाक-मुंशी बनाकर गोरखपुर भेज दिया गया। धनपतराय भी पिता के साथ ही देहात से शहर में आ गए। अब मदरसे के स्थान पर स्कूल में जाने लगे। यद्यपि स्कूलों में भी बच्चों के मानसिक विकास का ध्यान नहीं रखा जाता था, क्योंकि विदेशी शासक अंग्रेजों का प्रयोजन हिन्दुस्तानियों को शिक्षित करना नहीं, बल्कि अपनी दफ्तरी जरुरत के लिए क्लर्क पैदा करना था। यहाँ आकर धनपतराय वास्तव में पढ़ाई में कुछ ध्यान देने लगे।

धीरे-धीरे नवाबराय भी बड़े हो रहे थे। जब ये चौदह वर्ष के थे उस समय की बात अमृतराय इन शब्दों में दर्ज करते हैं - "अभी उसकी उम्र चौदह साल है, बचपन के बीत जाने की उम्र नहीं है, केवल वयःसंधि है। पर यह सब अब थोड़े दिनों का खेल है। माँ को मरे छः साल बीत चुके हैं। इस बीच उसने बहुत कुछ सहा है, सीखा है, देखा है और अकाल-प्रौढ़ता, जो कुछ तो उसकी प्रतिभा का क्षोभ है और कुछ उसकी परिस्थितियों का, उसका दरवाजा खटखटा रहीं हैं।"[184]

गोरखपुर के मिशन स्कूल से आठवाँ पास किया। अब नवें दर्जे में नाम लिखाना था जो बनारस में ही संभव था। उन दिनों उनके पिता की बदली जमनिया हो गई थी और उनकी सेहत भी कुछ गिर गई थी। पिताजी ने जब पूछा कि कितना खर्चा लगेगा, तब धनपतराय ने कहा पाँच रुपए। भला पाँच रुपए में क्या होने वाला था, पर पढ़ने की धुन के कारण तभी से ट्युशन वगैरह करके अपना कुछ खर्चा वे निकाल लेते थे। उन दिनों की अपने संघर्ष की बात प्रेमचंद ने जो लिखी है वह ध्यातव्य है - "पाँव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। महँगी अलग-दस सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वींस कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं पास के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे के पहले घर पर न पहुँचता था।

और प्रातःकाल आठ बजे ही घर से चलना पड़ता था, सही वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुआ था।"[185]

नवाब जब नवीं में थे तभी उनके नाना के सलाह पर उनका विवाह उनसे उम्र में ज्यादा बड़ी, काली, भद्दी, थुल-थुल, चेचक, अफीमखाने वाली और भचककर चलने वाली एक औरतनुमा लड़की से कर दिया।[186] मुंशी अजायब लाल को जब पता चला तो हिम्मत बटोरकर पत्नी से कहा - लालाजी ने मेरे लड़के को कुँए में ढँकेल दिया। मेरा गुलाब सा लड़का और यह बीबी। मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा। पत्नी ने कहा - देखा जाएगा।[187]

सन् 1877 में धनपतराय को मैट्रिक का इम्तहान देना था, पर पिताजी की बीमारी और बाद में उनकी मृत्यु के बज्रपात के कारण वे इम्तहान न दे पाए। छोटी सी उम्र में पिताजी सौतेली माँ और भाइयों का बोझ भी नवाब के कंधों पर डाल दिए। दूसरे साल मैट्रिक तो किया पर सैकिण्ड डिवीजन के कारण उनके कॉलेज में पढ़ने के सपनों पर तुषारापात हो गया। इस प्रकार से प्रेमचंद जी का बचपना भी वहीं पर मर चुका था। इस प्रकार से इनका बचपना खत्म हो गया था।

आधुकिता का उदय और प्रसार

आधुनिकता का उदय और प्रसार समाज के सभी पहलुओं सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और समसामयिक और सांस्कृतिक हर प्रकार से पड़ा। यह वह समय था जब हमारा देश पूर्णतया आजादी पाने की तरफ अपना कदम बढ़ा चुका था। अंग्रेजों को यहाँ से जड़ से उखाड़ फेंकने का समय आ गया था। उस समय भारत के तरह-तरह के आंदोलन गाँधी जी के माध्यम से चलाया जा रहा था और चलाया गया आंदोलन सार्थक भी हो रहा था। इस प्रकार अंग्रेजों की चालाकी उन पर भी डोरे डालने में समर्थ सिद्ध हुई। गोलमेज कांफेंस के समय ब्रिटिश सरकार को भी यह अनुभव हुआ कि कांग्रेस को नकार करके भारत में जो कुछ भी किया जाएगा वह बेकार ही जाएगा। अस्तु, गांधी जी ने लार्ड इरविन से समझौता करने का विचार स्थिर किया। तदनुसार कांग्रेस नेताओं को 26 जनवरी 1931 को बिना शर्त रिहा कर दिया गया। सर तेज जयकर और बी. एस. एस. शास्त्री की मध्यस्थता स्वीकार कर इरविन कांग्रेस से समझौता करने लगे। अंत में 'गांधी-इरविन-पैक्ट' की शर्त तय हुई और कांग्रेस राजबंदियों को जेल से मुक्त कर दिया गया। लेकिन 'गांधी-इरविन-पैक्ट' से जवाहरलाल नेहरु और सुभाषचंद्र बोस जैसे नेताओं को संतोष नहीं हुआ। यह इसलिए कि वैसा करने से कांग्रेस का समस्त भारत की प्रतिनिधि संस्था होने का दावा बाधित हो जाता था। इधर अंग्रेजों ने एक और चाल चली।

दूसरी गोलमेज कांफेंस सितम्बर सन् 1931 में बैठक की गयी। कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधी जी उसमें शमिल होने के लिए लंदन गए। इस बार भी सामुदायिक मसले खड़े किए गए जिनके कारण से सम्मेलन के विकास में बाधाएँ आयीं। लेकिन एक लाभ यह हुआ कि गांधी जी ने उस सम्मेलन के मंच से यह घोषित किया कि कांग्रेस एक राजनैतिक दल मात्र नहीं है वह तो राष्ट्रीय रंगमंच है, जिसमें अलग-अलग संप्रदायों और वर्गों के लोग एक साथ एकत्रित होकर राष्ट्र की मुक्ति के लिए प्रयासरत रहें। अंग्रेज जनता पर गांधी जी की सादगी और निर्भीकता का भी बड़ा असर पड़ा। परिणाम की दृष्टि से यह सम्मेलन भी पहले की भाँति विफल रहा।

इस बीच ब्रिटेन की राजनीति ने बड़ा पलटा खाया। रामजे मैकडोनेल ने मजदूर दल से हटकर एक राष्ट्रीय सरकार बनाई जो सभी दृष्टियों से कंजरवेटिव दल की ही सरकार थी। अगले आम चुनाव में कंजरवेटिव दल विजयी हुआ। उसकी विजय ने भारत में शासन सुधार कार्य की प्रगति में बड़ी रुकावटें पैदा कीं। इसी सरकार के समय में दूसरा गोलमेज सम्मेलन भी हुआ था। उस सम्मेलन के अंत में धन्यवाद ज्ञापन के समय गांधी जी ने एक तरह से अपनी ओर से इस नाटक का ही पटाक्षेप कर दिया।

भारत वापस आने के बाद गांधी जी ने देखा कि इरविन के उत्तराधिकारी वेलिंग्डन गांधी इरविन पैक्ट की शर्तों को भंग करने पर तुले हुए थे और वे कुछ सुनने को भी तैयार नहीं थे। गांधी जी अत्यंत दुख के साथ यह अनुभव किया कि वायसराय की दृष्टि में उनके सद्भाव का कोई अर्थ नहीं है।[188] वायसराय के सभी कार्यों से यह सूचित होता था कि वे उनकी सरकार इरविन के समय में जो थोड़ा बहुत हुआ था उसे लीप-पोतकर बराबर करना चाहते थे। वायसराय न तो यहाँ यह भी किया कि उसने तो गांधी जी से मिलने से भी मना कर दिया था। उनके इस अभद्र व्यवहार के बाद कांग्रेस ने आगे आंदोलन को फिर से जारी करने के अलावा दूसरा कोई भी रास्ता नहीं रह गया था। तत्पश्चात, कांग्रेस कार्य-समिति ने आंदोलन का सिंहनाद किया। गाँधीजी तथा कांग्रेस कार्य-समिति के सभी सदस्य कैद कर लिए गये। सारे देश के कांग्रेस के लोग एक बार फिर से जेल में कैद किए गए। कांग्रेसी संस्था को गैरसरकारी करार दिया गया। लाठी चार्ज और गोली-काण्ड तो हुए ही, कांग्रेस जनों की निजी सम्पत्तियों को भी जब्त किया गया। दमन के इस जोर के होने पर भी करीब 12000 लोगों ने जेल की यात्रा की।

अगस्त सन् 1932 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री रामजे मैकडोनेल भारतीय राष्ट्र की अखण्डता और कांग्रेस के सम्पूर्ण देश की ओर से बोलने के दावे के ऊपर एक कठोर आघात किया। उन्होंने साम्प्रदायिक निर्वाचन विषयक अपना निश्चय प्रसारित किया जिसके अनुसार मुसलमानों, यूरोपियनों और सिखों के लिए भिन्न-भिन्न निर्वाचन क्षेत्र स्थिर होना जरूरी हो गया था। इस निर्वाचन में महिलाओं के लिए भी स्थान को सुरक्षित रखे जाने थे और अछूतों को एक स्वतंत्र जाति मानकर उनके लिए भी भिन्न-भिन्न चुनाव क्षेत्र बनने वाले थे। सरकार ने अछूतों के लिए एक नया ही शब्द निकाला - अनुसूचित वर्ग। उसे सरकार हिन्दुओं से प्रायः अलग ही मानने लगी। गांधी जी ने इस निश्चय के विरुद्ध रुग्णावस्था के दौरान भी आमरण अनशन की घोषणा

की। अंग्रेजों द्वारा संपोषित डॉ. आम्बेडकर अछूतों के नए नेता के रूप में खड़े हुए। गांधीजी ने इस अनशन के पाँच दिन चलने के बाद एक आपसी समझौता हुआ। जिसे 'पूना पैक्ट' कहते हैं।

गांधीजी के अनशन के निश्चय के संबंध में अंग्रेजों ने यूरोप में यह प्रचार किया कि गांधीजी अवर्ण हिन्दुओं को किसी प्रकार की सुविधा देना नहीं चाहते थे।[189] भारत को गुलाम बनाकर रखने के लिए अंग्रेजों को एक बहुत ही अच्छा बहाना मिल गया। अंग्रेजों के प्रचार ने यूरोप में भारत के संबंध में यह अफवाह फैलाया कि वह तो आंतरिक संघर्षों से बिलकुल टूटा हुआ है और स्वतंत्र होने के योग्य भी नहीं है। ऐसे प्रचार से अंग्रेजों की नीयत पर संदेह होने लगा। पूना पैक्ट ने कम से कम यह बता दिया कि हमारे देश में गांधीजी का क्या मान है और यह देश आपसी मतभेदों को उनके बीच में पड़ने पर निबटारा कर सकता है।

एक ओर तो लार्ड वेलिंग्टन घोर दमन की नीति को कार्यान्वित कर रहे थे और दूसरी ओर संवैधानिक सुधारों की चर्चा भी करते थे। सन् 1932 की जनवरी में कंसल्टेटिव कमेटी के नाम से एक समिति गठित हुई जिसका काम था कांग्रेस को छोड़कर जो दूसरी राजनीतिक संस्थाएँ थीं या फिर नेता थे उनके चुनावों के अधिकार, संघीय अर्थनीति तथा देशी रजवाड़े के विषय में सलाह प्राप्त करके सरकार सूचना देना। सरकार की तरफ से आदेश आया कि वह तो जून सन् 1927 से ही यह चाहती है कि भारत के प्रांतों में पूर्ण सत्ता प्राप्त शासन-व्यवस्था और केंद्र में वैसे स्वतंत्र प्रांतों की इकाइयों की स्थापना हो। किंतु गोलमेज सम्मेलन के दो अधिवेशनों की असफलता से वह निराश हो चुकी थी। अब उस काण्ड का अंत करना चाहती थी। शासन सुधार कार्य को आगे बढ़ाने के लिए ही कंसल्टेटिव कमेटी बनाई गयी है। लेकिन भारत के और तो और नरम दल के नेताओं को यथा शास्त्री, जयकर, जोशी और सप्रू को भी यह बात अच्छी नहीं लगी और कंसल्टेटिव कमेटी का त्याग कर दिया। अंत मे तीसरा गोलमेज कांफ्रेंस बैठक करने का निर्णय लिया गया और 17 से 24 नवम्बर तक यह तीसरा गोलमेज सम्मेलन लंदन में हुआ भी। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इंग्लैण्ड के मजदूर दल ने भी इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया और उसने यह भी चाहा कि भारतीय इसका बहिष्कार करें।[190] कहना नहीं होगा कि कांग्रेस ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया।[191]

इधर भारत में आतंकवादी आंदोलन का जोर बढ़ रहा था। यतीनदास की शहादत के बाद आतंकवादी आंदोलन की अपेक्षित गति प्राप्त हुई। मुट्ठी भर

आतंकवादी अपने नेता चंद्रशेखर आजाद के नेतृत्व में शासन को पानी पिला देने में समर्थ सिद्ध हुए थे। सन् 1931 में इलाहाबाद में पुलिस मुठभेड़ में आजाद वीरगति को प्राप्त हुए। सन् 1932 में चितगाव आरमरी केस का भी फैसला हुआ और उनके अनुसार चौदह व्यक्तियों को काले पानी की सजा हुई। सन् 1930 के दिसम्बर महीने की 8 तारीख को विनय, बादल और निदेश नामक तीन नवयुवकों ने जेल के महा निरीक्षक की हत्या करके सरकार को बौखला दिया। फलस्वरूप वायसराय ने चार आर्डिनेंस निकाले जो बाद में 'स्पेशल पावर आर्डिनेंस' के नाम से विख्यात हुए। इस आर्डिनेंस का उद्देश्य दमन कार्य के लिए कानून की स्वीकृति प्राप्त करना था।[192]

आतंकवाद का प्रसार दिनोदिन कैसे बढ़ रहा था इसकी सूचना पहाड़तली रेलवे संस्थान की घटना से हमें पता चलता है। 22 सितम्बर 1932 को थोड़े से आतंकवादियों ने, जिनमें प्रीतिलता बद्देनजर नामक एक युवती भी थीं। उस संस्थान पर आक्रमण किया।[193] इस तरह की घटनाएँ अन्य स्थानों पर भी हो रही थीं।

अगले वर्ष सन् 1933 में कांग्रेस का महाधिवेशन कलकत्ता में होने वाला था। किंतु सरकार ने उस पर भी रोक लगा दी और कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों तथा अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन सरकारी पाबंदियों की अवज्ञा करके श्रीमती जे. एम. सेन गुप्ता की अध्यक्षता में निश्चित स्थान पर ही 2500 कांग्रेसियों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने शासन-सुधार संबंधी सरकारी श्वेत-पत्र का विरोध किया।

गांधीजी ने जेल में ही अनशन करने का एक बार और निश्चय किया। यह अनशन ब्रिटिश सरकार के खिलाफ न होकर स्वयं भारतीयों के खिलाफ प्रेरित था। गांधीजी की शिकायत थी कि हिन्दुओं ने अछूतों के साथ अभी तक अन्याय ही किया है। गांधीजी का यह निश्चय उनके सहयोगियों को किंकर्तव्यविमूढ़ कर देने वाला सिद्ध हुआ। गांधीजी का यह अनशन उनके अनुसार आत्मशुद्धि के लिए किया गया था। गांधीजी जीवन-मरण के संघर्ष में लगे हुए थे और देश उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट देना नहीं चाहता था। एक दूसरी बड़ी बात गांधीजी ने की वह यह थी कि उन्होंने कांग्रेस की कार्यवाहक अध्यक्ष माधव, श्री हरि अणे को यह कहकर कांग्रेस संस्था को इसलिए विघटित कर दिया कि कांग्रेस जनों के लुक-छिपकर आंदोलन करने की प्रवृत्ति बढ़ गयी थी। गांधीजी के अनुसार असहयोग आंदोलन के लिए नैतिक आचरण का जो उच्च स्तर अपेक्षित है वह कांग्रेस जनों के पास नहीं रह गया था।[194]

यहाँ पर यह बता देना सर्वथा उचित ही होगा कि जहाँ एक ओर दक्षिणपंथी कांग्रेसी सन् 1935 के संविधान के साथ उलझे हुए थे, वही वामपंथी कांग्रेसी विशेषकर कांग्रेस समाजवादी दल और साम्यवादी विचार वाले दूसरे प्रगतिशील जन कौंसिलों को धोखे की टट्टी समझते थे और ऐसा अनुभव कर रहे थे कि काजल की उस कोठरी में जाना पड़ेगा तो दाग लगना भी स्वाभाविक ही होगा। उनकी चिन्ता थी कि वह दाग कांग्रेसियों के उज्ज्वल वस्त्रों पर बहुत गहरा नजर आएगा। इन वामपंथियों ने मजदूरों, किसानों और किसानों के बीच में संगठन कार्य का शुभारम्भ किया गया। 'अखिल भारतीय किसान सभा' और 'स्टूडेंट फेडरेशन' जैसी संस्थाएं कायम हुईं। वामपंथ के नेताओं का उद्देश्य था कि राष्ट्र की जीवंत संघर्ष-शक्ति को संविधान के दलदल में फँसने से बचाना है। किसानों ने आगे नयी समस्याओं को खड़ी की। कांग्रेसी शासन ने जमीन पर किसानों के न्यायोचित अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए निहित स्वार्थ वाले वर्ग से, डरते-सहमते हुए भी थोड़े कानून बनाए थे। इन कानूनों के परिणामस्वरूप जमींदारों के साथ किसानों का वर्ग-संघर्ष खड़ा हुआ। वामपंथियों ने जमींदारों के खिलाफ किसानों की हरसंभव सहायता की। स्वामी सहजानंद सरस्वती, राहुल सांकृत्यायन, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेंद्र देव, अशोक मेहता, राम मनोहर लोहिया, जे. ए. अहमद, अनसार हरवानी जैसे वामपंथियों ने किसान, मजदूर और विद्यार्थी आंदोलन को पर्याप्त बल दिया।

रामकृष्ण मिशन में साधना करने वाले साधकों ने सेवा व्रत ग्रहण किया। वे इस व्रत का प्रचार घूम-घूमकर किया करते और इसी सेवा यज्ञ को वे मुक्ति विधायक मानते। संन्यासियों के इस समुदाय ने देश को यह सुझाया कि भारतवर्ष को सेवा-व्रती, शक्ति-संपन्न पुरुषार्थियों की अपेक्षा है न कि जीवन से विमुख होकर जंगलों में तपस्या करने वाले साधकों की। भगवान की लीलाओं का विस्तार, उसकी शक्ति का प्रकाश जिस लोक समाज में होता है उससे भागकर मुक्ति का संधान नहीं किया जा सकता।

विवेच्य काल में जैसे हिन्दुओं के बीच धार्मिक आंदोलन खड़े हुए वैसे ही मुसलमानों के समाज में भी थोड़ा बहुत सुधार कार्य का प्रयास करने के लिए आंदोलन खड़े हुए। ऐसे आंदोलनों में अहमदिया आंदोलन मुख्य है, जिसके प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद माने गये हैं।[195] सन् 1889 में इस आंदोलन का प्रवर्तन बहुत

कुछ ब्रह्म समाज के ढाँचे पर हुआ।[196] थियोसोफिकल सोसाइटी तथा पाश्चात्य संस्कारों से प्रभावित होने के कारण यह आंदोलन धार्मिक सहिष्णुता का व्रती था।

थियोसोफिकल सोसाइटी में मुसलमान भी सम्मिलित हुए थे। प्रायः उनकी ही प्रेरणा से यह आंदोलन खड़ा हुआ था।

समन्वय और सहयोग का एक उत्कृष्ट उदाहरण हमें हिन्दू समाज के विकास में मिलता है। वैसे हिन्दू शब्द का प्रयोग शायद पहले - पहल अरबों ने आठवीं ईसवीं में उन भारतीयों के लिए किया था, जो सिन्धु नदी के उस पार पूर्व में रहते थे। इस धर्म को वैदिक मूल का माना जाता है। इसकी शास्त्रीय परम्परा के स्रोत वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्र तथा पुराण माने जाते हैं।[197] हिन्दू-समाज व्यवस्था के आदर्श-प्रारूप के रचनाकार होने का श्रेय मनु को दिया जाता है। यह शास्त्रीय परम्परा निःसंदेह महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि इसने उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक फैले समुदायों को एक सीमा तक धार्मिक और सामाजिक एकरूपता दी। परन्तु व्यावहारिक हिन्दू धर्म ने क्षेत्रीय और धार्मिक लघु परम्पराओं की अस्मिता को स्वीकार कर उनसे समझौते किए और उनके धार्मिक तत्वों को ग्रहण किया। हिन्दू समाज का जो स्वरूप उभरा, उसमें शास्त्रीय महान परम्परा जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय और स्थानीय लघु-परम्पराएँ भी हैं। भारत के अभिकरण की प्रक्रिया अत्यंत जटिल थी। आर्य परम्पराओं और क्षेत्रीय-जातीय-परम्पराओं के संघर्ष ने समन्वय की शक्ति बढ़ाई। आर्य-परम्परा ने व्रात्य परम्पराओं को ग्रहण किया और क्षेत्रीय जातीय परम्पराओं के तत्व स्वीकार किए। सूत्रों द्वारा निर्धारित वैवाहिक और वंश-निर्धरिण के नियमों के अपवाद स्वीकार किए गए। अनेक समुदायों में भाई-बहन का विवाह मान्य है। आंध्र और कर्नाटक की कई जातियों में, जिनमें ब्राह्मण भी हैं। मामा भान्जी का विवाह भी मान्य है। इसी तरह मातृवंशी पविार भी हिन्दू-समाज ने स्वीकार किए।

धर्म की व्याख्या देश-काल-पात्र के संदर्भ में करने की प्रवृत्ति ने सामाजिक प्रक्रियाओं को लचीलापन दिया और समाज को जड़ता के दोष से बचाया। वैष्णव, शैव और शाक्त परम्पराएँ समान रूप से हिन्दू-धर्म को स्वीकार हुई। स्मार्त शाखा ने तीनों को एक साथ अपनाया।[198] अंर्तविरोधों को भी हिन्दू

समाज ने आत्मसात किया। आजीवक लोकायत और तांत्रिक परम्पराएँ असहमति और विरोध के स्वर के रूप में उभरीं, पर उन्हें भी हिन्दू समाज ने अपना लिया। जाति प्रथा की उत्पत्ति दैवी मानी जाती है। किन्तु यवन (ग्रीक), शक, हूण, कुषाण आदि अदेशज समूहों को वर्ण और जाति व्यवस्था में सम्मानजनक स्थान दिया गया। देशज धर्म जैन और बौद्ध धर्म, विशेष स्थितियों में संघर्ष के कारण भले ही बने हों किन्तु उनमें और हिन्दू धर्म में अधिक दूरी नहीं आयी। जैन मुनियों और श्रमणों को हिन्दू समाज न पर्याप्त आदर दिया और अहिंसा के परम धर्म के रूप में स्वीकार किया। गौतम बुद्ध को देश ने विष्णु को अवतार के रूप में स्वीकार किया और कालांतर में लुप्त प्रायः हुए बौद्ध धर्म ने समाज पर गहरी छाप छोड़ी। संत कवियों ने हिन्दू समाज के दोषों पर प्रहार किया, किन्तु वे भी देवों के रूप में पूजित हुए और उनके मन्दिर बने।[199]

देश ने विदेशी मूल के धर्मों से भी सहयोग किया। देश में पहले-पहल आने वाले ईसाई प्रचारकों को हिन्दुओं ने सम्मान दिया। सोलहवीं शताब्दी में सेन्ट पाल क्रिश्चयनों को, जिन्हें नजरानी कहा जाता था, ब्राह्मणों के समकक्ष माना गया। इन प्रचारकों में से कई ने भारतीय धर्मों का गहन अध्ययन किया और हिन्दू सामाजिक संरचना को भी स्वीकार किया। दक्षिण में यह स्थिति आज भी बनी हुई है। इस्लाम भारत में तलवार के जोर से नहीं आया। पश्चिमी तट के उत्तरी भाग में विल्हारा राजवंश ने और मालाबार के जमोरिन ने मुस्लिम व्यापारियों का स्वागत किया और उन्हें पूरी धार्मिक स्वतंत्रता दी। अनेक मुस्लिम संत और सूफियों ने इस्लाम का प्रचार किया, पर उनके गुणों से प्रभावित हिन्दू आज भी श्रद्धापूर्वक उनकी मज़ारों को नमन करते हैं। धर्मांध मुस्लिम शासकों के आक्रामक रुख ने असंतोष और संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न कीं; किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अकबर और दारा शिकोह भारत की सहिष्णुता, धार्मिक समभाव, समन्वय और सहयोग की परम्परा के उज्ज्वल प्रतीक हैं।

कांग्रेस की स्थापना के साथ ही साथ इस बात का भी अनुभव होने लगा कि यदि देश को आगे बढ़ाना है तो उससे सामाजिक क्रांति की भी अपेक्षा की जानी चाहिए। किंतु वैसी क्रांति कांग्रेस के तत्वाधान में इसलिए नहीं हो सकती थी कि कांग्रेस हिन्दू-जाति की संस्था न होकर संपूर्ण राष्ट्र की संस्था थी। कांग्रेस के नेताओं में रानाडे सामाजिक क्रांति के बहुत बड़े आग्रही थे। लेकिन उनके आदर्श

मध्ययुगीन संतों के आदर्श थे। नवीन जीवन क्रम ने जो नई सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न की थीं उनके परिप्रेक्ष्य में भी समाज सुधार के प्रश्न पर विचार करना था। 'सोसल कांफ्रेन्स' नामक एक स्वतंत्र संस्था जब स्थापित हुई तब एक ऐसा रंगमंच देश को प्राप्त हुआ जिसकी बड़ी अपेक्षा थी। 1904 में इस संस्था का बम्बई में अधिवेशन हुआ।[200]

इस अधिवेशन को कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। एक बड़ी बात यही हुई कि उस अधिवेशन में बड़ौदा के गायकवाड़ ने अपने उद्घाटन भाषण में जाति-व्यवस्था का बड़े तीखे शब्दों में खण्डन किया।[201] यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि सोशियल कांफ्रेन्स ने अछूतोद्धार के प्रश्न को बड़े जीवट के साथ उठाया तथापि उसे इस विषय में सबसे पहले आंदोलन करने वाली संस्था नहीं कह सकेंगे। 1898 में ही प्रार्थना-समाज ने भी Depressed class Mission गठित कर लिया था।[202] जैसे सवर्णों के बीच अनेकानेक उपवर्ग खड़े थे वैसे ही अन्त्यजों के समाज में भी अनेकानेक वर्ग और उपवर्ग थे। सुधारकों के लिए यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य थी। यह इसलिए कि राष्ट्र की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित करने के लिए ही सुधार के ये सारे कार्य हो रहे थे। Social Confrence के 1908 के अधिवेशन में शंकरन नायर ने इस प्रश्न की ओर सुधारकों का ध्यान खींचा। अछूतों की दशा को सुधारने का प्रयास मिस्टर वी आर शिंदे द्वारा भी किया गया। उन्होंने Depessed classes Mission नामक संस्था, 1906 में बम्बई में हरिजनों के बीच शिक्षा प्रचार के उद्देश्य से, स्थापित की।[203] बम्बई में ही Bombay Presidency Social Refom Association नामक संस्था भी इस दिशा में प्रयत्नशील थी।

हरिजनों के उद्धार का प्रयत्न करने वाली संस्थाओं में ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज के भी नाम महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन इस विषय में वास्तविक श्रेय तो अंग्रेजों की उस साम्राज्यवादी नीति को ही मिलना चाहिए जो भारत की प्रजा के बीच में फूट डालकर शासन करना चाहती थी और जिसके विरोध में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक व्यापक आंदोलन छेड़ा और अखिल भारतीय हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना की।[204]

महात्मा गाँधी ने अस्पृश्यता-निवारण को स्वराज्य प्राप्ति के लिए अत्यन्त अनिवार्य शर्त माना था। वे कहते थे कि छुआ-छूत की इस जटिल व्यवस्था को

लेकर चलने वाला देश स्वतंत्रता के न तो योग्य होता है और न स्वतंत्रता की रक्षा ही कर सकता है। अस्तु, उन्होंने अपने रचनात्मक कार्यक्रम के सूत्रों में एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सूत्र के रूप में अस्पृश्यता निवारण को भी रखा। कांग्रेस की सदस्यता के लिए एक शर्त यह भी थी कि आवेदक को छुआ-छूत के प्रति अपनी अनास्था घोषित करनी पड़ती थी।[205] कांग्रेस जन परस्पर व्यवहार में छुआ-छूत को लेकर नहीं चल सकते थे। कांग्रेस अधिवेशनों में विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के लोग एकत्र होते थे और उनको साथ-साथ खाना-पीना पड़ता था। इस प्रकार कांग्रेस-जनों के व्यावहारिक जीवन में छुआ-छूत के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी थी।[206]

इस प्रकार अछूतों की समस्या, हिंदू समाज के लिए एक महत्त्वपूर्ण समस्या तो अवश्य ही थी किन्तु वह सिर्फ हिन्दू-जाति की घरेलू समस्या ही थी। अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए हिन्दू समाज की इस समस्या का उपयोग करने का निश्चय किया। अँग्रेज भारत को कभी आजाद होने दें, यह उनका विचार कत्तई न था। यद्यपि वे हमेशा कहा करते थे कि वे भारत का शासन भारतीयों के हाथों में रख देने के लिए व्यग्र हैं। स्वयं भारतीय ही उस दायित्व को ग्रहण करें अपने को इस योग्य नहीं समझ पा रहा है। अपने इस दावे के समर्थन के लिए उन्होंने अछूतों को हिन्दू-जाति से भिन्न एक विशिष्टि सम्प्रदाय के रूप में खड़ा करने की अनथक चेष्टा की। इसी नीति के कार्यान्वियन के क्रम में अंग्रेज सरकार ने मैक्डोनल के सांप्रदायिक निर्णय की घोषणा की। यह गोलमेज परिषद् के दूसरे अधिवेशन के उपरांत सिर्फ इसलिए की गई थी कि दुनिया यह जान ले कि भारत को आजादी दिला पाना आसान काम नहीं है। सांप्रदायिक निर्णय की इस घोषणा के अनुसार हिन्दुओं के अन्त्यज अथवा दलित-वर्ग को हिन्दुओं की विशाल विरादरी के बाहर खींचकर लाने की राजनैतिक चेष्टा हुई। दलित जातियों के लिए कौंसिलों में निश्चित संख्या में स्थान सुरक्षित रखे गए। उन निर्वाचन क्षेत्रों में दलित-वर्ग के लोग ही मतदाता बनाए गए। दलित-वर्ग के मतदाताओं को साधारण चुनाव-क्षेत्रों में मत देने का अधिकार भी, इस निर्णय के आधार पर दिया गया। गांधीजी ने सरकार की इस नीति को खूब अच्छी तरह से समझा। उन्होंने यह घोषित किया कि सरकार यह चाहती है कि अस्पृश्यता का कलंक सदैव के लिए बना रहे। अश्पृश्यता को दूर करने का उपाय पृथक-निर्वाचन-मण्डल अथवा

कौंसिलों को विशेष रक्षित स्थान नहीं है।[207] गांधीजी ने कहा कि अछूत यदि मुसलमान या ईसाई हो जाएँ तो मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं। मैं वह सह लूँगा, किन्तु प्रत्येक गाँव में यदि हिन्दुओं के दो भाग हो जाए तो हिन्दू-समाज की जो दशा होगी वह मुझसे सही न जा सकेगी। जो लोग अछूतों के राजनैतिक अधिकारों की बात करते हैं वे भारत को नहीं पहचानते और हिन्दू-समाज आज किस प्रकार बना हुआ है यह नहीं जानते।[208] अपना यह विरोध प्रकट करने के लिए गांधीजी ने अनशन करके अपने प्राणों की बाजी लगा दी।

भारत में इसकी बड़ी प्रतिक्रिया हुई और यह माँग की गई कि सरकार को भारतीय-उद्योग-धंधों में रुचि लेनी चाहिए।[209]

प्रथम महायुद्ध के समय भारत के उद्योग-धंधों को विकसित होने का एक अवसर मिला। युद्ध के पहले जर्मनी और आस्ट्रिया के बने बहुतेरे माल भारत पहुँचते थे और उनके साथ भारतीय उद्योग की प्रतिद्वंद्विता करनी पड़ती थी। लड़ाई के कारण अब उन देशों से माल आना बंद हो गया था।[210] इस तरह से स्वदेशी माल की माँग बढ़ गई। उधर दूसरी ओर युद्ध-सामग्रियों में इस्पात, पटसन, चमड़े और ऊनी कपड़े ऐसे थे जिनमें भारत की रुचि हो सकती थी और अंग्रेजों को ये चीजें यही मिल भी सकती थीं। अब जीवन-मरण के संघर्ष में अंग्रेज लगे हुए थे तो परिस्थियों के दबाव ने उन्हें विवश किया कि वे भारतीय उद्योग धंधों के प्रति रुचि लें। किंतु भारत के पास वे उपस्कर कहाँ थे जिनकी आवश्यकता भारी उद्योग चलाने के लिए होती है। सन् 1915 में भारत सरकार के पास एक जोरदार प्रस्ताव भेजा जिसके परिणामस्वरूप अगले वर्ष इण्डियन इंडस्ट्रियल कमीशन का गठन किया गया।[211] आपातकालीन स्थिति के कारण इस कमीशन के प्रतिवेदन की प्राप्ति एक निश्चेष्ट बैठा नहीं जा रहा जा सकता था। अस्तु, भारत सुरक्षा नियम के अन्तर्गत कुछ कार्रवाइयाँ की गईं। ऐसी कार्रवाइयों में महत्त्वपूर्ण है इण्डियन म्यूनिसन्स बोर्ड की स्थापना।[212] अब स्थिति यह थी कि सरकार भारतीय पूँजीपतियों को राजी खुशी रखकर अपना संकट टालना चाहती थी। इण्डियन म्यूनिसन्स बोर्ड की स्थापना का उद्देश्य सैनिकों के लिए आवश्यक सामग्रियों की प्राप्ति था। भारतीय माल घटिया किस्म के और अधिक महँगे होने पर भी सरकार का संरक्षण पाने लगे।[213]

सन् 1918 इण्डियन इंडस्ट्रियल कमीशन ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसमें यह कहा गया था कि सरकार को प्रांतीय तथा केन्द्रीय स्तर पर उद्योग विभाग का गठन करना चाहिए, वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान वितरण करना चाहिए और भारतीय उद्योग धंधों को साहाय्य और प्रोत्साहन देना चाहिए।[214] अब तक युद्ध समाप्त हो गया था और सरकार की गरज पूरी हो चुकी थी। अस्तु, सरकार ने उद्योग-विभाग तो शासन-तंत्र में गठित कर लिया किंतु उसके आगे कुछ भी नहीं किया। इस प्रकार युद्ध काल में भारत में जब उद्योगीकरण के लिए जो संभावना खड़ी हुई थी उसका कोई विशेष लाभ देश उठा न सका। युद्ध के बाद दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों के साथ भारतीय माल का संघर्ष भी बढ़ गया। जो उद्योग युद्ध काल में खड़े हुए थे उनकी अकाल मृत्यु होने लगी।[215]

सरकार पर दबाव डालकर सन् 1921 में फिस्कल कमीशन की नियुक्ति कराई गई।[216] इस कमीशन से इतना ही लाभ हुआ कि विशेष स्थितियों में इस्पात, कपास, चीनी, कागज और दियासलाई उद्योगों को सरकार का संरक्षण प्राप्त हुआ।[217] सरकार इस विषय में फूँक-फूँककर कदम रख रही थी। उसके आगे ब्रिटिश-उद्योग की सुरक्षा और संवर्द्धन की चिंता थी।

अप्रैल सन् 1919 और मार्च सन् 1920 की कालावधि में भारतीय उद्योग-धंधों का भारी मुनाफा होने लगा। अभियंत्रण, चीनी, तेल, चमड़े और टिम्बर उद्योग विशेष रूप से इस काल में फायदे में रहे। किन्तु उद्योगपतियों की अनुभवहीनता और उनके अनियन्त्रित उत्साह के कारण मुनाफे का रोजगार भयानक रूप से घाटे में पड़ा। स्थिति ऐसी हो गई कि एक जूट उद्योग को छोड़कर शेष सभी उद्योग बंद हो गए।

सन् 1922-23 में यह अनुभव किया गया कि उद्योग के क्षेत्र में कहीं तो कुछ बड़ी भूल हो ही रही है, उसका मार्जन होना बहुत जरूरी है। फलस्वरूप इस कालावधि में उद्योग के पुनःसंगठन का प्रयत्न किया गया।

भारत की अर्थ-व्यवस्था को सरकार को मुद्रानीति ने भी बहुत ही प्रभावित किया। कहना नहीं होगा कि सरकार की मुद्रा नीति ब्रिटेन का लाभ और भारत का शोषण करती थी। विदेशी सरकार की अर्थनीति ने भारत का कितना नुकसान

किया इसका अंदाज यदि सपनों में किया जाए तो उल्लेख के लिए संख्या ही नहीं रहेगी।

सरकार के विरुद्ध जब सन् 1932 का असहयोग आंदोलन खड़ा हुआ तो स्वभावतः उसका प्रहार ब्रिटिश औद्योगिक हितों के प्रति हुआ और उसी ने प्रकारांतर से स्वदेशी पूँजीपतियों के साथ एक प्रकार का समझौता किया। जिस गृह-उद्योग को अंग्रेजों ने नष्ट कर दिया उसके विकास का कांग्रेस ने भरपूर प्रयत्न किया। खादी और ग्रामोद्योग संघ ने इस विषय में जो कुछ भी किया है वह सर्वविदित है। लेकिन भारत जैसे देश की आर्थिक दशा की उन्नति मुख्यतः भारी उद्योगों के विकास पर ही निर्भर रहती है। यही कारण है कि आगे चलकर भी सन् 1938 में कांग्रेस ने श्री नेहरु की अध्यक्षता में राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया। आज की हमारी योजनाएँ भारी उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन दे रही हैं।

संदर्भ-सूची

1-द्रष्टव्यः युगनिर्माता प्रेमचंद तथा कुछ अन्य निबंध; पृष्ठ-2
2-द्रष्टव्यः युगनिर्माता प्रेमचंद तथा कुछ अन्य निबंध; पृष्ठ-2
3-द्रष्टव्यः हिन्दी उपन्यासःउद्भव और विकास-डॉ सुरेश सिन्हा, पृष्ठ-138
4-आनंदमठ, बंकिमचंद्र ने गीत सर्वप्रथम प्रकाशित किया गया। जो बाद में क्रांतिकारियों का राष्ट्रगान बन गया।
5- गुजराती शायर के गीत की पंक्तियाँ
6-सेवासदन - प्रेमचंद ; पृष्ठ - 128
7-Raja Ram Mohan Roy and progressive movements in India–Jatindra Majumdar ; P-V
8-Raja Ram Mohan Roy and progressive movements in India–Jatindra kr Majumdar;P-V
9-B P & I R – R C Majumdar ; Page-107
10-दी इण्डियन स्ट्रगल-सुभाषचंद्रबोस-नेताजी पब्लिकेशन सोसायटी; पृष्ठ-23
11-मॉडर्न रिलिजियस मूवमेन्टस् इन इण्डिया-जे एन फर्कहार; पृष्ठ-5, 6
12-Sindha observer ; Ram mohan roy- Quarterly, no-dt-27-09-1933
13-History of Congress-Part-1 : Page-10
14-B P I R Part-II ; Page-434
15-Social Background of Indian Nationailsm – A R Desai ; Page- 254
16-B P & I R – Part- II ; Page-438
17-काँग्रेस का इतिहास-भाग-I ; पृष्ठ-6
18-A Sketch of the History of the India – Henery Dodwell ; Page – 251
19 - A Sketch of the History of India – Henry Dodwell ; Page-251-52 ;254
20-Wahabi Agitation – A S H India ; Page- 253
21 -A Sketch of the History of India – Henry Dodwell ; Page - 254
22-A Sketch of the History of India – Henry Dodwell ; Page-253-54
23-काँग्रेस का इतिहास-भाग-एक ; पृष्ठ-8
24-काँग्रेस का इतिहास-भाग-एक ; पृष्ठ-8
25- A Sketch of the History of India – Henry Dodwell ; Page-255
26-S. B. I. N. – A. R. Desai ; Page-281
27-A. W. Hume – Father of the Indian National Congress ; Page – 27
28- The B. P. I. R. – Part-2 ; Page - 548
29-कांग्रेस का इतिहास-भाग-एक ; पृष्ठ-64
30- History of Freedom Movement in India – R. C. Majumdar ; Page -3
31-Hind swarajya – Mahatma Gandhi ; Page - 15

32- History of Freedom Movement in India – R .C. Majumdar ; Page -9
33-विश्व इतिहास की झलक - जवाहरलाल नेहरू ; पृष्ठ-872
34-History of the Freedom Movement – R. C. Majumdar ; Page - 19
35-India Today – R. P. Dutt ; Page
36-कांग्रेस का इतिहास, भाग-एक ; पृष्ठ - 84
37-आधुनिक भारत - सुमित सरकार ; पृष्ठ-153
38 - History of the Freedom Movement – R. C. Majumdar ; Page – 178-79
39 - Social background of India Nationalism – A. R. Desai ; Page - 301-2
40- काँग्रेस का इतिहास, खण्ड-1 ; पृष्ठ-66
41- काँग्रेस का इतिहास, खण्ड-1 ; पृष्ठ-66
42 - A sketch of the History of the India - Henery Dodwell ; Page – 272-73
43- काँग्रेस का इतिहास, भाग-एक ; पृष्ठ-23
44 - India Today - R. P. Dutta ; Page - 274
45 - Muslim Leeg ; Page – 71 - 72
46 - History of the Freedom Movement – R. C. Majumdar ; Page – 178-79
47-विश्व का इतिहास ; पृष्ठ-332
48-History of the Freedom Movement – R. C. Majumdar ; Page – 350
49-Adeclaration of American President – Wudro Wilson
50-History of the Freedom Movement – R. C. Majumdar ; Page – 500
51-Congress Presidential Addressed – Page – 310-11
52-Congress Presidential Addressed – Page – 316
53-History of the Congress , Part – 1 ; Page - 111
54-History of the Freedom Movement – R. C. Majumdar ; Page – 369
55-विविध प्रसंग , भाग-दो ; प्रेमचंद ; पृष्ठ- 122
56-The Indian National Movement – Nimai Sadhan Bose ; Page -53
57-History of the Freedom Movement – R. C. Majumdar ; Page – 504
58-History of The Congress , Part – 1 ; Page - 129
59-Vividha Prasang – Bhag-2 ; Page - 168
60-History of The Congress , Part – 1 ; Page - 131
61-History of The Congress , Part – 1 ; Page – 131-132
62-History of The Congress , Part – 1 ; Page – 333
63-The Last years pf the British India – Maicale Advards ; Page-44
64-The Last years pf the British India – Maicale Advards ; Page-45
65-Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page – 57-58
66-India Today ; Page – 280
67-Presidential address to the Calcutta special session of the National Congress in

September , 1920
68-The Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page – 92-93
69-History of the Congress ; Part – 1 , Page – 180
70-The Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page – 209
71-The Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page – 210
72-The Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page – 215
73-The Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page – 218
74-कांग्रेस का इतिहास, पृष्ठ - 289
75-The Indian National Movement – N. S. Bose , Page - 80
76- हिन्दी-साहित्यःउसका उद्भव और विकास;डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी,पृष्ठ-100
77- -B P & I R VOL. – x ; Page-21
78- B P & I R VOL. – x ; Page-21
79-भारत दुर्दशा - भारतेन्दु हरिश्चंद्र ; पृष्ठ - 51
80-A Nation in Making ; S. N. Benerji , Page – 2
81- B P & I R VOL. – x ; Page-97
82-उपर्युक्त ; पृष्ठ - 97
83- Ram Mohan roy ki Atma Katha B. P. T. O. R.
84-A century of Social reforms in India – S. Natrajan ; Page - 29
85-Social Background of Indian Nationailsm – A R Desai ; Page- 253
86-Rise and growth of Indian liberalism – M. A. Buch ; Page – 10
87-Premaissance df Hindustan – D. S. Sharma ; Page - 91
88-Social Background of Indian Nationailsm – A R Desai ; Page- 255
89- B P & I R VOL. – x ; Page-106
90- B P & I R VOL. – Part - 2 ; Page-106
91- B P & I R VOL. – x ; Page-111 It was strongly resented by Muslims and was a source of almost chronic fnce between the two.
92- प्रेमचंद के उपन्यासों में समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिफलन - डॉ.सरोज प्रसाद; पृष्ठ-88

93-He looked upon the Aryasamaj as a serious menance to England and her sovereignty -

S.I.R.N. Desai ; Page – 257

94- Social Background of Indian Nationailsm – A R Desai ; Page- 258

95- इमम् मंत्रं पत्नी पठेत् - श्रौतसूत्रादि - आर्यो का इतिहास ; पृष्ठ - 224

96- It tried to destroy them inferiority comlex the inevitable product of them status, as a subject Nation – S.B.I.N. A.R.Desai – Page – 257

97- History of the Arya Samaj – Indra Bachaspati – Voll. – II ; Page – 127 - 128

98- B P & I R VOL. – x ; Page-131

99- It considered ancient Hinduism as the most profoundly. Spiritual religion in the world.

Social Background of Indian Nationailsm – A R Desai ; Page- 259

100- B P & I R VOL. – x ; Page-133

101- B P & I R VOL. – x ; Page-132

102- B P & I R VOL. – x ; Page-117

103 - B P & I R VOL. – x ; Page-122

104 - B P & I R VOL. – x ; Page-122

105 - संस्कृति के चार अध्याय; पृष्ठ-84

106 - Social Background of Indian Nationailsm – A R Desai ; Page- 259

107– "Their religion was in the kitchen,their God was the cooking pot and their religion was don,t touch me I am holy." ; By – Vivekanand and his words ; page – 167

108-- B P & I R VOL. – x ; Page-129

109- B. P. I.R. –Vol. – X ; Page – 21

110- B. P. I.R. –Vol. – X ; Page – 21

111- Ram Mohan Roy and Pogressive Movement in India : (Introduction-1 ; Page – 109

112- A Century of Social Reforms in India : S Natrajan ; Page – 30-31

113- Ram P. M. India – Introduction ; Page – 109

114- Ram P. M. India – Introduction ; Page – 109

115- B. P. I. R. – Vol – X ; Page – 274

116- B. P. I. R. – Vol – X ; Page –22

117- B. P. I. R. – Vol – X ; Page – 278

118- B. P. I. R. – Vol – X ; Page –278

119 - B. P. I. R. – Vol – X ; Page –284

120 - B. P. I. R. – Vol – X ; Page –285

121 - B. P. I. R. – Vol – X ; Page –286

122 - B. P. I. R. – Vol – X ; Page –286

123 - B. P. I. R. – Vol – X ; Page –288

124 - B. P. I. R. – Vol – X ; Page –290

125- The position of woman in Hindu civilization - Alteker ; Page-26

126- The position of woman in Hindu civilization - Alteker ; Page-71

127- The position of woman in Hindu civilization - Alteker ; Page-71

128- The position of woman in Hindu civilization - Alteker ; Page-71

129- A century of Social reforms in India – S. Natrajan ; Page – 136

130- A century of Social reforms in India – S. Natrajan ; Page – 68

131- S.B.I.N. - A.R. Desai ; Page : 242

132- S.B.I.N. - A.R. Desai ; Page : 213

133- S.B.I.N. - A.R. Desai ; Page : 231

134- S.B.I.N. - A.R. Desai ; Page : 232

135- इण्डिया टुडे - रजनीपाम दत्त ; पृष्ठ : 21

136- इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट (1916-18) पृष्ठ : 249

137- विश्व इतिहास की झलक - नेहरु जी ; खण्ड-2 ; पृष्ठ-580

138- माडर्न इण्डिया एण्ड दी वेस्ट, ओ मैले और वेडेन पावेल सो बे ई ने में उल्लिखित ; पृष्ठ-27

139- Lands Poblems in India – Radaha Kamal Mukharjl ; Page –16

140- S. B. I. N. – A. R. Desai ; Page – 29

141- विश्व इतिहास की झलक - खण्ड-2 ; नेहरु जी

142- An Autobiography – J. L. Nehru ; Page- 52

143- स्टडीज इन बंगाल रेनासा - पीजेन्ट क्वेश्चन्स- शीर्षक निबंध लेखक नरहरि कविराज ; पृष्ठ-522

144- विश्व इतिहास की झलक - खण्ड-2 ;नेहरु जी ; पृष्ठ-591

145- विश्व इतिहास की झलक - खण्ड-2 ; नेहरु जी ; पृष्ठ-593

146- S. B. I. N. – A. R. Desai ; Page – 36

147- Competative Economic reletions resulting out of private properly and market replaced former co-opretive Socio-Economic relations. S. B. I. N. – A. R. Desai ; Page – 36

148- विश्व इतिहास की झलक - नेहरु जी ; खण्ड-2 ; पृष्ठ-594

149- अवर इकोनामिक प्राब्लेम - वाडिया और मर्चेन्ट ; पृष्ठ-282

150- भारतीय अर्थशास्त्र - जथार तथा बेरी ; पृष्ठ-286

151- अवर इकोनामिक प्राब्लेम - वाडिया और मर्चेन्ट ; पृष्ठ-282

152- अवर इकोनामिक प्राब्लेम - वाडिया और मर्चेन्ट ; पृष्ठ-283

153- अवर इकोनामिक प्राब्लेम - वाडिया और मर्चेन्ट ; पृष्ठ-283

154- भारतीय अर्थशास्त्र - जथार तथा बेरी ; पृष्ठ-289

155- अवर इकोनामिक प्राब्लेम - वाडिया और मर्चेन्ट ; पृष्ठ-412 (History of England in the Atinth century)

156- अवर इकोनामिक प्राब्लेम - वाडिया और मर्चेन्ट ; पृष्ठ-413

157- अवर इकोनामिक प्राब्लेम - वाडिया और मर्चेन्ट ; पृष्ठ-413

158- Essays in Indian economics - Ranade ; Page : 106

159- Our Economic Poblem – Wadia and Merchant ; Page : 413

160- Our Economic Poblem – Wadia and Merchant ; Page : 416

161- They protested that the state should not undertake any pioneering of industries, but be fully satisfied with simply inparting industrial education. The Mordern Economic History of India – Aokialwari ; Page : 128

162- The Economic development of india - Vera Anstey ; Page -215

163- सुलभ गुजराती निबंधमाला - डॉ वी ए शाह ; पृष्ठ-176

164- द्रष्टव्य : काव्य के रूप ; डॉ गुलाब राय ; पृष्ठ 233

165- मौलिक परम्परा से

166- कबिरा खड़ा बाजार में - व्यंग्य निबंध ; भूमिका से

167- मेरी तैतीस कहानियाँ - शैलेश मटियानी ; भूमिका से

168- त्यागपत्र - जैनेन्द्रकुमार ; पृष्ठ-40

169- लाईफ एण्ड वर्क ऑफ प्रेमचंद ; डॉ मनोहर बन्दोपाध्याय ; पृष्ठ-3

170- कलम का सिपाही - अमृतराय ; पृष्ठ-7

171- लाईफ एण्ड वर्क ऑफ प्रेमचंद ; डॉ मनोहर बन्दोपाध्याय ; पृष्ठ-4

172- लाईफ एण्ड वर्क ऑफ प्रेमचंद ; डॉ मनोहर बन्दोपाध्याय ; पृष्ठ-4

173- द्रष्टव्य : कलम का मजदूर ; मदन गोपाल पृष्ठ-15-16

174- द्रष्टव्य : कलम का मजदूर ; मदन गोपाल पृष्ठ-21

175- द्रष्टव्य : कलम का मजदूर ; मदन गोपाल पृष्ठ-20

176- लाईफ एण्ड वर्क ऑफ प्रेमचंद ; डॉ मनोहर बन्दोपाध्याय ; पृष्ठ-5

177- कलम का सिपाही - अमृतराय ; पृष्ठ-20

178- कलम का सिपाही - अमृतराय ; पृष्ठ-20

179- कलम का सिपाही - अमृतराय ; पृष्ठ-19

180- द्रष्टव्य : कलम का मजदूर ; मदन गोपाल पृष्ठ-21

181- द्रष्टव्य : प्रेमचंद जीवन कला और कृतित्व : डॉ हंसराज रहबर ; पृष्ठ-4

182- कर्मभूमि - प्रेमचंद ; पृष्ठ-114-115

183- द्रष्टव्य : प्रेमचंद जीवन कला और कृतित्व : डॉ हंसराज रहबर ; पृष्ठ-7

184- 'चोरी' कहानी : मानसरोवर भाग-5 ; पृष्ठ-111-112

185- कलम का सिपाही - अमृतराय ; पृष्ठ-32

186- कलम का सिपाही - अमृतराय ; पृष्ठ-32-33

187- कलम का सिपाही - अमृतराय ; पृष्ठ- 34

188- कलम का सिपाही - अमृतराय ; पृष्ठ-34

189- कांग्रेस का इतिहास ; पृष्ठ - 413

190- The Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page –346

191- The Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page –351

192- The Indian National Movement – N. S. Bose , Page - 83

193- The Indian Struggle – S. Chandra Bose ; Page –354

194- The Indian National Movement – N. S. Bose , Page - 89

195- Ghndhiji Quoted in India Today ; Page – 312

196 - Social Background of Indian Nationailsm – A R Desai ; Page- 259

197- Social Background of Indian Nationailsm – A R Desai ; Page- 259

198–समय और संस्कृति – श्यामाचरण दुबे ; पृष्ठ – 143

199– समय और संस्कृति – श्यामाचरण दुबे ; पृष्ठ – 143

200– समय और संस्कृति – श्यामाचरण दुबे ; पृष्ठ – 143

201– A. C. S. R. I. – S. Natrajan ; Page-110

202– A. C. S. R. I. – S. Natrajan ; Page-111

203– A. C. S. R. I. – S. Natrajan ; Page-112

204 – A. C. S. R. I. – S. Natrajan ; Page-113

2 05– S. B. I. N. – A. R. Desai ; Page-233

206– S. B. I. N. – A. R. Desai ; Page-233

207– कांग्रेस का इतिहास – पट्टाभि सीतारमैय्या ; पृष्ठ–1

208– कांग्रेस का इतिहास – पट्टाभि सीतारमैय्या ; पृष्ठ–557

209– कांग्रेस का इतिहास – पट्टाभि सीतारमैय्या ; पृष्ठ–557

210– The Economic development of india - Vera Anstey ; Page –218

211– The Economic development of india - Vera Anstey ; Page –218

212– The Economic development of india - Vera Anstey ; Page –216

213– The Economic development of india - Vera Anstey ; Page –117

214– The Economic development of india - Vera Anstey ; Page –218

215– The Modern Economic History of India - Arokialwari ; Page : 130

216– Industrialisation oxford pamphlets on Indian Affairs . No. –10 ; Page : 6

217– The Modern Economic History of India - Arokialwari ; Page- 831

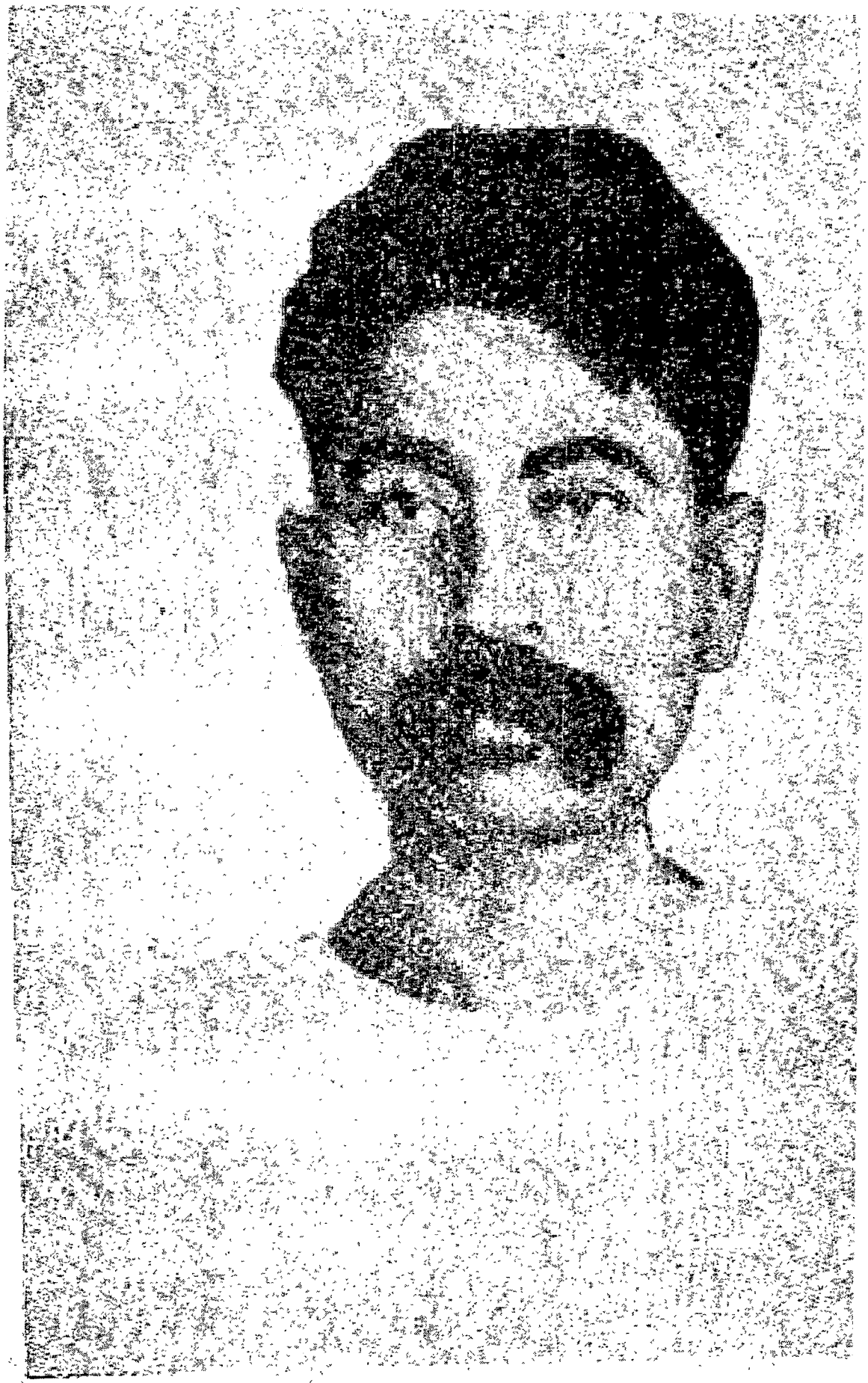

১৯২১